श्रीमद् आचार्य भीषणजी
के
विचार-रत्न

अनुवादक और
लेखक
श्रीचन्द रामपुरिया

प्रकाशक—
श्री रुकमानन्द सागरमल बोथरा
२०१, हरिसन रोड,
कलकत्ता

प्रथमावृत्ति १,०००]   सं० १९९६   [मूल्य ॥)

प्रकाशक—

श्री रुकमानन्द सागरमल

२०१, हरिसन रोड,

कलकत्ता ।

मुद्रक—

भगवतीप्रसाद सिंह

न्यू राजस्थान प्रेस

७३।ए, चासाधोबा पाड़ा स्ट्रीट,

कलकत्ता ।

समर्पण

महिमामय ऋषिधन ! भारत के, धर्म उजागर रवि सम तप के,
अति लघु वय में जिन-शासन के, रक्षक नायक नेता गण के।
धर्म-गगन में दिव्य ध्रुव से, सत्य अहिंसा के निर्झर से,
ब्रह्मचर्य—लतिका—उपवन—में, निर्विकार निर्लेप कमल से।
सत् श्रद्धानी, ज्ञानी, ध्यानी, त्रिवेणी संगम शुभ नीके,
चलते-फिरते तीरथ पावन, करते भव-भव के अघ फीके।
गुण रत्नों के मान सरोवर, आत्म-हंस ने जान लिया,
अद्भुत योगी आगम-वन के, गुरु महिमामय मान लिया।
भाव-भ्रमर के सुमन मनोहर, हृद—तन्त्री के गान महा,
दीप-शिखा से जीवन-वन के, मन-मन्दिर के देव अहा।
ऋषिवर ! पावन कर-कमलों में, जीवन की यह साध महा,
अर्पित है अति पुलक भाव से, हृदय मोद से थिरक रहा।

दो शब्द

कोई ६ वर्ष पहले की बात है, 'अनेकान्त' नामक मासिक पत्र की ८, ९, १० किरण देख रहा था। हठात् मेरी दृष्टि "मारवाड़ का एक विचित्र मत" और दीक्षितजी का स्पष्टीकरण शीर्षक लेख पर जा पड़ी। पं० शंकरप्रसादजी दीक्षित ने जनवरी सन् १९३० के 'चाँद' में 'मारवाड़ का एक विचित्र मत' लेख प्रकाशित करवाया था। लेख में तेरहपन्थ सम्प्रदाय का परिचय (?) दिया था परन्तु 'तेरहपंथ' शब्द के पहिले श्वेताम्बर या दिगम्बर शब्द न रहने से दिगम्बर समाज ने अपने 'तेरहपन्थ' सम्प्रदाय के सम्बन्ध में ही उसको लिखा समझा और इससे दिगम्बर तेरापन्थी भाइयों को काफी क्षोभ हुआ और इस लेख के प्रतिवाद में लेख भी निकाले। बाद में जब दीक्षितजी को मालूम हुआ कि दिगम्बर समाज में भी तेरहपन्थ सम्प्रदाय है तो, उन्होंने एक स्पष्टीकरण लिख दिया—'जनवरी के चाँद में मेरा जो लेख 'मारवाड़ का एक विचित्र मत' शीर्षक प्रकाशित हुआ है, वह दिगम्बर तेरहपन्थियों के विषय में नहीं है, किन्तु श्वेताम्बर-तेरहपन्थियों के विषय में है' ××— 'अनेकान्त' के विद्वान सम्पादक पं० जुगलकिशोरजी मुख्तार ने इस स्पष्टीकरण को अपने पत्र में प्रका-

शित करते हुए अनेकान्त की उपरोक्त किरण के उक्त लेख में स्पष्टीकरण के सम्बन्ध में टिप्पणी करते हुए लिखा था '× × × यह जानते हुए भी कि जैनियों के अहिंसा धर्म की महात्मा गांधीजी जैसे असाधारण पुरुष भी बहुत बड़ी प्रशंसा करते हैं, एक जरा से छिद्र को लेकर—एक भूले-भटके आधुनिक समाज की बात को पकड़ कर—मूल जैनधर्म को अपने आक्षेप का निशाना बना डाला! उसे हिंसाप्रिय धर्म तक कह डाला!—, यह निःसन्देह एक बड़ी ही असावधानी तथा अक्षम्य भूल का काम हुआ है। सावधान लेखक ऐसा कभी नहीं करते।'

इस किरण के पहले एक अन्य किरण में भी पं० माधवाचार्य, रिसर्च स्कालर महानुभाव के 'भारतीय दर्शन शास्त्र' नामक लेख को पढ़ते हुए श्वेताम्बर तेरापन्थी सम्प्रदाय के सम्बन्ध में निम्नलिखित उद्गार मिले थे :-

'आज से करीब दो सौ वर्षों के पहिले बाईस टोला से निकल कर श्री भीखमदासजी मुनि ने तेरहपन्थ नाम का एक पन्थ चलाया।

इसमें सूत्रों की मान्यता तो बाईस टोला के बराबर है परन्तु स्वामी दयानन्द के सत्यार्थ प्रकाश की तरह इन्होंने भी भ्रम विध्वंसन और अनुकम्पा की ढाल बना रखी है। इस मत ने दया और दान का बड़ा अपवाद किया।'

एक प्रतिष्ठित पत्र में बिना आधार ऐसे उद्गारों को प्रकाशित होते देख कर हृदय में जो भी भाव उठे हों उनमें एक भाव सर्वोपरि था

कि श्वेताम्बर तेरापन्थ सम्प्रदाय के प्रवर्तक महामना श्रीमद् आचार्य भीखणजी के विचारों का एक संग्रह हिन्दी में क्यों न निकालूँ ? उनके विचार रत्नों को क्यों न जैन विद्वानों के सामने लाऊँ ? जिससे उनकी सच्ची समालोचना हो सके। ये विचार आज के ६ वर्ष पहिले उठे थे और उनमें मुख्यतः पं० जुगलकिशोरजी के 'भूले भटके' और 'आधुनिक' इन दो शब्दों की प्रेरणा थी। प्रेरणा तो जागृत हुई परन्तु मेरे पास पर्याप्त सामग्री न थी कि इस विषय में प्रामाणिक पुस्तक लिख सकूँ। इसके लिए तो मुझे स्वामीजी की एक-एक रचनाओं को देख जाना चाहिए। गम्भीर अध्ययन और चिन्तन की दरकार थी। साधुओं के दीर्घ-कालीन सहवास बिना मूल प्रतियाँ सुलभ न थीं और न उनकी समझ ही। फिर भी भावना का जोर बढ़ता जाता था। करीब पाँच वर्ष पहिले श्रीमद् आचार्य जयगणि रचित 'भिक्षु यश रसायण' नामक स्वामीजी के जीवन-चरित्र की एक प्रति अनायास हाथ आ गई। यह जीवन-चरित्र पढ़ जाने के बाद भावना ने और भी जोर पकड़ा। और फिर तो जो भी तेरापन्थी साहित्य हाथ में आया उसे मनोयोग पूर्वक पढ़ने और समझने की चेष्टा करता रहा। इस बीच साधुओं के सत्संग का भी लाभ मिला, तथा समय-समय पर अवकाश निकाल कर कुछ लिखना भी शुरू किया। यह पुस्तक मेरे ऐसे ही प्रयत्नों का फल है। ६ वर्ष पहले उठी भावनाओं को आज कार्य रूप में परिणत कर सका हूँ जैसे कोई जीवन की एक साध पूरी हुई हो।

ऐसे आत्मानन्द का अनुभव करता हूँ जैसे मैंने कोई अपने जीवन में महत्त्वपूर्ण कार्य किया हो। और इस सब के लिए मेरी पहली कृतज्ञता विद्वान पं० जुगलकिशोरजी के प्रति है। यदि इतने लम्बे समय तक 'भूले-भटके' और 'आधुनिक' ये दो शब्द मेरे कानों में अपनी ध्वनि नहीं करते रहते तो शायद यह काय पूरा न होता। इसलिए मैं उनका ऋणी अवश्य हूँ।

यह पुस्तक कोई मेरी मौलिक रचना नहीं है, परन्तु मारवाड़ी भाषा में लिखी हुई स्वामीजी की रचनाओं से और उनके आधार पर हिन्दी भाषा में तैयार किया हुआ संग्रह है। इस पुस्तक के तैयार करने में अनुकम्पा, दान, जिन आज्ञा, समकित, श्रद्धा आचार, बारह व्रत आदि विषयों की स्वामीजी की रचनाओं का उपयोग किया गया है। अनुवाद करते समय शब्दों पर विशेष ध्यान न रख कर मूल भाव को आँच न पहुँचे इसका खास लक्ष रखा है। अनुवाद छाया अनुवाद या भावानुवाद कहा जा सकता है। किसी गाथा का अनुवाद करते समय उसके मूलस्थल की शाख अनुवाद के बाद दे दी है, जिससे इच्छा करने पर स्वामीजी की मूल रचनाओं के साथ सुगमतापूर्वक मिलाया जा सकता है। इस प्रकार जिस गाथा के बाद में शाख नहीं दी हुई है वह विषय की गम्भीरता को स्पष्ट करने के लिए या तो मेरी अपनी लिखी हुई या सूत्रों के आधार पर तैयार की हुई है। अन्तर शीर्षक और विषय क्रम मेरा है।

पुस्तक में (१) अनुकम्पा (२) दान (३) जिन आज्ञा

(४) समकित (५) श्रावकाचार (६) साधु आचार इन विषयों पर स्वामीजी के विचारों का संग्रह है।

हरेक विषय को समझाने के लिए उसके अन्तर शीर्षक कर दिए हैं और किसी एक अन्तर शीर्षक के सम्बन्ध की सामग्री उस विषय के या अन्य विषय की रचनाओं से चुन कर एक जगह रख दी है। उदाहरण स्वरूप पहला विषय अनुकम्पा का है। अनुकम्पा का पहला अन्तर शीर्षक अहिंसा की महिमा है। इस सम्बन्ध की जिस ढाल में जो विशेषता वाली गाथा है वह इस शीर्षक में रख दी है। इसी प्रकार से अन्य अन्तर शीर्षकों के सम्बन्ध में भी समझना चाहिए।

नवतत्त्व, शील की नवबाड़, इन्द्रियाँ—सावद्य या निर्वद्य? क्या साधु के अव्रत होती है? पर्यायवादी की ढालें आदि बहुत से विषयों सम्बन्धी स्वामीजी के विचारों को इस पुस्तक में सम्मिलित नहीं किया जा सका। बारह व्रत और नवतत्त्व तो मौलिक विस्तृत टिप्पणियों सहित ही तैयार किया था। विस्तार भय से बारह व्रत संक्षिप्त रूप तथा टिप्पणियों को छोड़ कर पुस्तक में गर्भित कर दिया है परन्तु पुस्तक विशाल होने के भय से नवतत्त्व अंतरित नहीं किया गया और उसे भविष्य के लिए रख लिया है। स्वामीजी के जीवन में सैकड़ो हजारों चर्चाओं के प्रसंग आए हैं। उनकी बहुत-सी महत्त्वपूर्ण चर्चाएँ भी पुस्तक में देने का विचार था परन्तु पुस्तक बड़ी हो जाने के भय से न देकर भविष्य के लिए रख लिया है।

विषय सूची यथास्थान लगा दी है। और आरम्भ में स्वामीजी की प्रामाणिक जीवनी भी लगा दी है जिससे स्वामीजी के विचारों के साथ-साथ उनके महत्त्वपूर्ण जीवन की झांकियाँ भी पाठकों को मिल सकें।

इस पुस्तक प्रकाशन का सारा खर्च उदारतापूर्वक चुरू (बीकानेर) निवासी श्रीयुक्त रुक्मानन्दजी सागरमलजी ने उठाया है, जिसके लिए उनका आभारी हूँ।

पुस्तक तैयार करने में इस बात का खास ध्यान रक्खा है कि कहीं कोई गल्ती न रहे फिर भी स्वामीजी के गम्भीर विचारों को अपनी ओर से लिखने में गल्ती रहना सम्भव है। प्रूफ की गल्तियाँ भी यत्रतत्र रही हों। इन सब के लिए मैं पाठकों का क्षमापात्र हूँ और ऐसी गल्तियाँ जो भी मुझे सुझाई जायँगी उसके लिए मैं आभारी होऊंगा।

प्रेस के मालिक मित्रवर भगवतीसिंहजी बीसेन से प्रेस के कार्य के सिवाय जो और सहयोग मिला वह कम नहीं है। उसके लिए मैं पूरा कृतज्ञ हूँ।

यदि पाठकों ने मेरे इस प्रयत्न को अपनाया तो शीघ्र ही इनके सामने स्वामीजी की अन्य उत्कृष्ट रचनाओं को हिन्दी में रखने का प्रयत्न करूँगा।

श्रीचन्द रामपुरिया

उपोद्घात

श्रीमद् आचार्य भीखणजी का जन्म मारवाड़ राज्य के कँटालिया ग्राम में सम्बत् १७८३ की आषाढ़ शुक्ला त्रयोदशी—सर्व सिद्धा त्रयोदशी को मूल नक्षत्र में सोने के पाये से हुआ था। इनके पिता का नाम बलूजी संखलेचा और माता का नाम दीपाँ बाई था। ये बालकपन से ही बड़े वैरागी थे और धर्म की ओर विशेष रूचि रखते थे। इनकी जो कुछ शिक्षा हुई वह गुरु के यहाँ ही हुई थी। वे महाजनी में बड़े हुशियार थे और घर के काम-काज को बड़ी कुशलता पूर्वक संभाला करते। पंच-पंचायती के कामों में वे अग्रसर रहते थे।

जन्म—

भीखणजी का विवाह कब हुआ यह मालूम नहीं परन्तु पता चलता है कि वह छोटी उमर में ही कर दिया गया था। परन्तु इस प्रकार बाल्यावस्था में ही वैवाहिक जीवन में फंस जाने पर भी उनकी आन्तरिक वैराग्य भावानाओं में फर्क नहीं आया। भोग और विलास में न पड़ वे और भी संयमी और संसार से खिन्न चित्त हो गये। भीखणजी की पत्नी उन्हीं की तरह धार्मिक प्रकृति की थी।

विवाह—

भीखणजी के माता-पिता गच्छवासी सम्प्रदाय के अनुयायी थे। अतः पहले-पहल इसी सम्प्रदाय के साधुओं के पास भीखणजी का आना-जाना शुरू हुआ। बाद में वे इन के यहाँ आना-जाना छोड़ पोतिया बंध साधुओं के अनुयायी हुए। परन्तु इनके प्रति भी उनकी भक्ति विशेष समय तक न टिक सकी और वे बाईस सम्प्रदाय की एक शाखा विशेष के आचार्य श्री रुघनाथजी के अनुयायी हुए।

वैराग्य और दीक्षा—

इस तरह भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों के संसर्ग से चाहे और कोई लाभ हुआ हो या न हुआ हो परन्तु इतना अवश्य हुआ कि भीखणजी की सांसारिक जीवन के प्रति उदासीनता दिनो-दिन बढ़ती गई। और वह यहाँ तक बढ़ी कि उन्होंने दीक्षा लेने का विचार कर लिया। पूर्ण यौवनावस्था में पति-पत्नी दोनों ने ब्रह्मचर्य व्रत धारण कर लिया और इस प्रकार उठते हुए यौवन की उद्दाम तरंगों पर वैराग्य और संयम की गहरी मुहर लगा दी और प्राप्त भोगों को छोड़ कर सच्चे त्यागी होने का परिचय दिया। कहा भी है:—

'वस्त्र गंध अलंकारो, स्त्रीओ ने शयनासनो,
पराधीन पणे त्यागे, तेथी त्यागी न ते बने।
जे प्रियकान्त भोगो ने पामी ने अलगा करे,
स्वाधीन प्राप्त भोगों ने, त्यागे त्यागीज ते खरे।'

ब्रह्मचर्य के नियम के साथ-साथ एक और नियम भी पति

पत्नी दोनों ने ग्रहण किया। उन्होंने यह प्रतिज्ञा की कि जब तक प्रव्रजित होने की अभिलाषा पूरी न हो तब तक वे एकान्तर— एक दिन के बाद एक दिन—उपवास किया करेंगे। परन्तु प्रव्रजित होने की मनोकामना पूरी होने के पूर्व ही भीखणजी की पत्नी का स्वर्गवास हो गया। अब भीखणजी अकेले रह गये। लोगों ने उनको फिर विवाह कर लेने के लिए समझाया परन्तु वे दृढ़चित रहे। उन्होंने लोगों की एक न सुनी और प्रतिज्ञा की कि वे यावज्जीवन विवाह नहीं करेंगे।

इस प्रकार भीखणजी ने मुनि जीवन के लिए अपने को पूर्ण रूप से तैयार कर लिया और समय पाकर आचार्य श्री रुघ-नाथजी के हाथ से प्रव्रज्या ली। कहा जाता है कि जब भीखणजी उदर में थे तब माता दीपाँबाई ने स्वप्न में एक केशरी सिंह का दृश्य देखा था। इससे उनकी धारणा थी कि उनका पुत्र महा यशस्वी पुरुष होगा और वह उस शुभ मुहूर्त्त की धीर चित से प्रतीक्षा कर रही थीं। इसी बीच में दीक्षा लेने के लिए आज्ञा देने की मांग उनके सामने आई। भीखणजी अपनी माता के एक मात्र पुत्र और सहारे थे। भीखणजी के इस विचार को दीपाँ बाई सहन न कर सकीं और इसलिए दीक्षा के लिए अनुमति देना अस्वीकार कर दिया।

अनुमति देना अस्वीकार करते समय माता दीपाँ बाई ने आचार्य श्री रुघनाथजी से सिंह-स्वप्न की भी चर्चा की थी और कहा था कि भीखणजी के भाग में साधु होना नहीं परन्तु

कोई वैभवशाली पुरुष होना बदा है। इस प्रकार हठ करते हुए देख कर आचार्य श्री रुघनाथजी ने दीपाँ बाई से कहा था कि तुम्हारा यह स्वप्न मिथ्या नहीं जा सकता। प्रव्रज्या लेकर भिक्खू सिंह की तरह गूंजेगा। आचार्य श्री रुघनाथजी की यह भविष्य वाणी अक्षरशः सत्य निकली। माता की धारणा के अनुसार भीखणजी कोई ऐश्वर्य्यशाली मुकुटधारी राजा तो न हुए परन्तु त्यागियों के राजा, तत्त्वज्ञान और अखण्ड आत्म-ज्योति के धारक महा पुरुष अवश्य निकले।

स्वामीजी की दीक्षा सम्बत् १८०८ की साल में हुई। उस समय उनकी अवस्था २५ वर्ष की थी। उन्होंने पूर्ण यौवना-वस्था में मुनित्त्व धारण किया। प्रव्रजित होने के बाद प्रायः ८ वर्ष तक वे आचार्य श्री रुघनाथजी के साथ रहे। इस अवसर को उन्होंने जैन शास्त्रों के गम्भीर अध्ययन और चिंतन में बिताया। भीखणजी की बुद्धि अत्यन्त तीक्ष्ण थी। वे तत्त्व को बहुत शीघ्र ग्रहण करते थे। थोड़े ही दिनों में उन्होंने जैन तत्त्वज्ञान और धर्म का तलस्पर्शी और गम्भीर ज्ञान प्राप्त कर लिया। चर्चा में बड़े तेज निकले। वे आचार्य श्री रुघनाथजी से तत्त्वज्ञान, धर्म और साधु आचार-विचार सम्बन्धी गम्भीर प्रश्न करते रहते। गुरु शिष्य में परस्पर अत्यन्त प्रीति और विश्वास भाव था। और यह प्रगट बात थी कि भावी आचार्य भीखणजी ही होंगे।

सम्वत् १८१५ की बात है। एक ऐसी घटना घटी जिसने भीखणजी के जीवन में एक महान् परिवर्तन कर दिया। मेवाड़ में राजनगर

आत्म-वञ्चना का विष—

नामक एक शहर है। वहाँ पर उस समय आचार्य श्री रुघनाथजी के बहुत अनुयायी थे। इन अनुयायियों में अधिकांश महाजन थे और कई आगम रहस्य को जाननेवाले श्रावक थे। साधुओं के आचार-विचार को लेकर इनके मन में कई प्रकार की शंकाएँ खड़ी हो गई थीं और बात यहाँ तक बढ़ी कि इन श्रावकों ने आचार्य श्री रुघनाथजी की सम्प्रदाय के साधुओं को वन्दना नमस्कार करना तक छोड़ दिया। इन श्रावकों से चर्चा कर उन्हें अनुकूल लाने के लिए भीखणजी भेजे गये। भीखणजी ने राजनगर में चौमासा किया और श्रावकों को समझा कर उनसे वंदना करना शुरू करवाया। श्रावकों ने वंदना करना तो स्वीकार किया परन्तु वास्तव में उनके हृदय की शंकाएँ दूर नहीं हो सकी थीं। उन्होंने स्वामीजी से साफ कहा भी कि हमारी शंकाएँ तो दूर नहीं हुई हैं परन्तु आपके विश्वास से हम लोग वंदना करना स्वीकार करते हैं। गुरु की आज्ञा को पालन करने के लिए भीखणजी ने कुछ चालाकी से काम लिया था। भीखणजी ने सत्य के आधार पर नहीं परन्तु अपने व्यक्तित्व के प्रभाव से और झूठ का आश्रय लेकर श्रावकों को वंदना करने के लिए राजी किया था। इस प्रकार भीखणजी आत्म वंचना का जहर पी गये। गुरु और साधु

पद की मर्यादा की रक्षा के लिए भीखणजी ने श्रावकों के सत्य विचारों को गल्त प्रमाणित किया और आगम विरुद्ध आचार का मंडन किया !

इस घटना के कुछ ही बाद भीखणजी को भीषण ज्वर का प्रकोप हो आया। जैसे वह विष भीतर न टिक कर बाहर निकल रहा हो। भीखणजी के विचारों में तुमुल संघर्ष हुआ। एक अपूर्व क्रान्ति उत्पन्न हुई। आत्म-वञ्चना के पाप से उनका हृदय कांपने लगा। उन्हें तीव्र प्रायश्चित और आत्म ग्लानि का अनुभव हुआ। उन्होंने विचारा मैंने कैसा अनर्थ किया ! मैंने सत्य को झूठ प्रमाणित किया ! यदि इसी समय मेरी मृत्यु हो तो मेरी कैसी दुर्गति हो ! ऐसी अपूर्व भावना को भाते हुए उन्होंने उसी समय प्रतिज्ञा की: यदि मैं इस रोग से मुक्त हुआ तो अवश्य पक्षपात रहित होकर सच्चे मार्ग का अनुसरण करूँगा, जिनोक्त सच्चे सिद्धान्तों को अंगीकार कर उनके अनुसार आचरण करने में किसी की खातिर नहीं करूँगा। इस प्रकार दिव्य आन्तरिक प्रकाश से उनका हृदय जगमगा उठा और यह प्रकाश उनके जीवन को अन्त तक आलोकित करता रहा।

आत्म-साक्षात्कार की प्यास—

विपति में जहाँ पापी मनुष्य हाय तोबा करता है वहाँ एक सच्चा मुमुक्षु पुरुष अपनी आत्मा की रक्षा में लगता है। ज्यों-ज्यों शारीरिक दुःखों का वेग बढ़ता है त्यों-त्यों उसके हृदय की वृत्तियों की अन्तर्मुखता भी बढ़ती जाती है और उसकी आत्मा

अधिकाधिक सत्य के दर्शन के लिए दौड़ती है। स्वामीजी जो विचार निरोगावस्था में नहीं कर सके वे विचार रोगावस्था में उनके हृदय में उठे। सांसारिक प्राणी की दृष्टि जहाँ मिथ्या आत्म सम्मान, बाह्य सुख और प्रतिष्ठा की खोज करती रहती है वहाँ मुमुक्षु की दृष्टि अन्तर की ओर होती है। मानापमान के सवाल में वह कभी पड़ भी जाता है तो भी मुमुक्षु को उससे निकलते देर नहीं लगती। भीखणजी के साथ भी ऐसा ही हुआ। वे आन्तरिक मुमुक्षु थे।

दुधारी तलवार—

भीखणजी को यह प्रगट मालुम देने लगा कि उनका पक्ष मिथ्या है और श्रावकों का पक्ष सत्य है फिर भी वे अधीर न हुए। आत्मार्थी फूंक-फूंक कर चलता है। वह अधीरज को महान पाप समझता है। वह अपने विचारों को एक बार नहीं परन्तु वार-बार सत्य की कसौटी पर कसता है और जब जरा भी सन्देह नहीं रह जाता तब जो अनुभव में आता है उसे प्रगट करता है। स्वामीजी ने भी अन्तिम निर्णय देने के लिए इसी मार्ग का अवलम्बन किया। उन्होंने धीर चित से दो बार सूत्रों का अध्ययन किया। गुरु की पक्षपात कर झूठ को सत्य प्रमाणित करना जहाँ परभव में महान दुःख का कारण होता वहाँ गुरु के प्रति भी कोई अन्याय होने से आत्मिक दुर्गति होने का कारण था। इस दुधारी तलवार से बचने के लिए आगम दोहन ही एक मात्र उपाय था। इस दोहन से

जब उन्हें ठीक निश्चय हो गया कि वे मिथ्या हैं तब श्रावकों के समक्ष उन्होंने अपनी गलती स्वीकार करते हुए उनकी मान्यता सत्य है और आगम का आधार रखती है यह घोषित किया।

अपूर्व विनय—

श्रीमद् भीखणजी ने जिनोक्त मार्ग अंगीकार करने की प्रतिज्ञा की थी पर इससे पाठक यह न समझें कि उन्होंने आचार्य श्री रुघनाथजी के शिष्य न रहने की ही ठान ली थी और किसी नए मत के प्रवर्तक ही वे बनना चाहते थे। जहाँ सच्चा मार्ग हो वहाँ गुरु रूप में या शिष्य रूप में रहना उनके लिए समान था। आत्म-कल्याण का प्रश्न ही उनके सामने प्रमुख था इसलिए शिष्य रह कर भी वे इसे साध सकें तो उन्हें कोई आपत्ति न थी। इसीलिए आचार्य श्री रुघनाथजी के पक्ष को गलत समझ लेने पर उन्होंने उसी समय उनसे अपना सम्बन्ध नहीं तोड़ दिया। बल्कि उल्टा उन्होंने यह विचार किया कि आचार्य महाराज से मिल कर शास्त्रीय आलोचन करूंगा और सारे सम्प्रदाय को हर उपाय से शुद्ध मार्ग पर लाने का प्रयत्न करूंगा। उनके न मानने पर वे क्या करेंगे इसका निश्चय वे कर चुके थे परन्तु इस निश्चय को वे तभी काम में लाना चाहते थे जब कि आचार्य महाराज को समझने का पूरा अवकाश दे देने पर भी वे सत्मार्ग पर न आते। इस समय भीखणजी ने जिस विनय और धीरज का परिचय दिया वह अवश्य ही उनकी मुमुक्षुता, आन्तरिक वैराग्य और धर्म भावना का द्योतक था।

चातुर्मास समाप्त होने पर श्रीमद् भीखणजी ने राजनगर से विहार किया। उन्होंने अपने साथ जो चार और साधु थे उनको अपनी मान्यताओं को अच्छी तरह समझाया। वास्तविक साधु आचार और विचार की बातें उनको बतलाई। यह सुन कर सभी साधु हर्षित हुए और भीखणजी के विचारों को सत्य पर अवलम्बित समझा। भीखणजी राजनगर से विहार कर सोजत की ओर आ रहे थे। रास्ते में छोटे-छोटे गांव पड़ते थे, इस लिए साधुओं के दो दल कर दिए एक दल में वीरभाणजी थे। भीखणजी ने वीरभाणजी को समझा दिया था कि यदि वे रुघनाथजी के पास पहिले पहुँचे तो वहाँ इस विषय की कोई चर्चा न करें क्योंकि यदि पहिले ही बात सुन कर पक्षपात हो गया तो समझाने में विशेष कठिनाई होगी। मैं खुद जाकर सब बातें विनय पूर्वक उनके सामने रखूंगा और उन्हें सत्य मार्ग पर लाने की चेष्टा करूंगा। घटना चक्र से वीरभाणजी ही पहिले सोजत पहुँचे। उस समय रुघनाथजी वहीं थे। वीरभाणजी ने वन्दना की। आचार्य रुघनाथजी ने पूछा श्रावकों की शंकाएँ दूर हुई या नहीं। वीरभाणजी ने उत्तर दिया—"श्रावकों के कोई शंका होती तब न दूर होती उन्होंने तो सिद्धान्तों का सच्चा भेद पा लिया है। हम लोग आधाकर्मी आहार करते हैं। एक ही जगह से रोज-रोज गोचरी करते हैं, वस्त्र, पात्रादि उपादानों के बंधे हुए परिमाण का उल्लंघन करते हैं, अभिभावकों की आज्ञा बिना ही दीक्षा दे डालते हैं; हर

किसी को प्रव्रजित कर लेते हैं, इस तरह अनेक दोषों का हमलोग सेवन करते हैं और केवल सेवन ही नहीं परन्तु उनको उचित भी ठहराते हैं। श्रावक सत्य ही कहते हैं उनकी शंकाएँ मिथ्या नहीं हैं।' यह सुन कर रुघनाथजी स्तम्भित हो गये। उन्होंने कहा—यह क्या कहते हो? वीरभाणजी ने कहा—मैं सत्य ही कहता हूँ। मैंने जो कहा वह तो नमूना मात्र है, पूरी बात तो भीखणजी के आने से ही मालूम होगी। इस तरह धीरज न होने से वीरभाणजी ने सारी बात कह डाली। भीखणजी इस घटना के बाद पहुँचे। आते ही उन्होंने आचार्य महाराज रुघनाथजी को बन्दन नमस्कार किया परन्तु उन्होंने भीखणजी से रुख न जोड़ी और न उनका वन्दन नमस्कार स्वीकार किया। यह देख कर श्रीमद् भीखणजी समझ गये कि हो-न-हो वीरभाणजी ने पहले ही सारी बात कह दी है। भीखणजी ने इस प्रकार उदासीनता का कारण पूछा तब उन्होंने उत्तर दिया—'तुम्हारे मन में शकाएँ पड़ गयी हैं। तुम्हारा और हमारा दिल नहीं मिल सकता। आज से हमारा और तुम्हारा आहार भी एक साथ नहीं होगा।' श्रीमद् भीखणजी ने मन में विचार किया हममें और इनमें दोनों में ही समकित नहीं हैं परन्तु अभी बहस करना निरर्थक है। शायद ये सोचते हों कि मैं हर हालत में इनसे अलग होना चाहता हूँ और इन्हें गुरु नहीं मानना चाहता। इसलिए उचित है कि मैं उनकी इस धारणा को दूर कर उनके हृदय में विश्वास उत्पन्न

करूँ कि मेरे विचार ऐसे नहीं हैं। मुझे शिष्य रूप में रहना अभीष्ट है बशर्ते कि सन्मार्ग के अनुसरण में कोई रुकावट न हो। यह सोच कर उन्होंने आचार्य श्री रुघनाथजी से कहा—'मेरी शकाओं को दूर कीजिए। मुझे प्रायश्चित्त देकर भीतर लीजिए,' इस तरह आचार्य महोदय की व्यर्थ आशंका को दूर कर सामिल आहार किया।

इसके बाद सुअवसर देख कर श्रीमद् भीखणजी ने आचार्य महाराज के साथ विनम्रता पूर्वक आलोचना शुरू की। उनका कहना था कि हमलोगों ने आत्मकल्याण के लिए ही घरबार छोड़ा है अतः झूठी पक्षपात छोड़ कर सच्चे मार्ग को ग्रहण करना चाहिए। हमें शास्त्रीय वचनों को प्रमाण मान कर मिथ्या पक्ष न रखना चाहिए। पूजा प्रशंसा तो कई बार मिल चुकी है, पर सच्चा मार्ग मिलना बहुत ही कठिन है, अतः सच्चे मार्ग को प्राप्त करने में इन बातों को नगण्य समझना चाहिये। आपको इस सम्बन्ध में सन्देह नहीं रखना चाहिए कि यदि आपने शुद्ध जैन मार्ग को अङ्गीकार किया तो मेरे लिए आप अब भी पूज्य ही रहेंगे। आप पुण्य-पाप का मेल मानते हैं, एक ही काम में पुण्य और पाप दोनों समझते हैं यह ठीक नहीं है। अशुभ योग से पाप का बन्ध होता है और शुभयोग से पुण्य का संचार होता है परन्तु ऐसा कौन सा योग है जिससे एक ही साथ पुण्य और पाप दोनों का संचार होता हो ? अतः आप अपनी पकड़ को

गुरु से चर्चा—

छोड़ कर सच्ची बात को ग्रहण कीजिए। परन्तु आचार्य रुघनाथजी पर भीखणजी की इन बातों का कोई असर नहीं पड़ा। उलटे वे अधिक क्रुद्ध हो उठे। भीखणजी ने सोचा अब उतावल करने से काम नहीं होगा जिद को दूर करने के लिए धीरज से काम लेना होगा। मौका देख कर फिर उनने प्रार्थना की कि इस बार चातुर्मास एक साथ किया जाय जिससे कि सच्च झूठ का निर्णय किया जा सके परन्तु आचार्य महाराज ऐसा करने के लिए राजी नहीं हुए।

अन्तिम प्रयास—

इसके बाद श्रीमद् भीखणजी बगड़ी में फिर आचार्य से मिले और फिर चर्चा कर सच्चे मार्ग पर आने का अनुरोध किया परन्तु आचार्य रुघनाथजी ने एक न सुनी। अब भीषणजी को साफ-साफ मालूम हो गया कि आचार्य महाराज समझाए नहीं समझ सकते अतः उन्होंने सोचा कि अब मुझे अपनी ही चिन्ता करनी चाहिए। यह सोच कर स्वामीजी ने आचार्य महाराज से सम्बन्ध तोड़ दिया। बगड़ी शहर में उनका संग छोड़ कर श्रीमद् भीखणजी ने अलग विहार कर दिया।

प्रभु के पथ पर—

इस प्रकार आचार्य श्री रुघनाथजी से अपना सम्बन्ध विच्छेद कर श्रीमद् भीखणजी ने अपने लिए विपत्तियों का पहाड़ खड़ा कर लिया। उस समय आचार्य रुघनाथजी एक प्रतिष्ठित आचार्य समझे जाते थे। उनके अनुयायियों की संख्या बहुत थी। श्रीमद् भीखणजी

के अलग होते ही आचार्य रुघनाथजी ने उनका घोर विरोध करना शुरू किया। परन्तु भीखणजी इन सबसे बिचलित होनेवाले न थे। श्रीमद् भीखणजी को भयभीत करने के लिए तथा उसको फिरसे स्थानक में लौट आने को बाध्य करने के लिए शहर में सेवक के द्वारा ढिंढोरा पिटवा दिया गया कि कोई भी भीखणजी को उतरने के लिए स्थान न दे। कोई जान सुन कर भीखणजी को उतरने के लिए स्थान देगा उसको सर्व संग की आण है। भीखणजी इस विरोध से तनिक भी विचलित न हुए। सिंह की तरह अपने निश्चय पर डटे रहे। विचार किया यदि इस विपत्ति से घबड़ा कर मैं फिर स्थानक में चला गया तो फिर पुराने जाल में फँस जाऊँगा और फिर उससे निकलना भी सरल न होगा यह सोच कर भविष्य की कठिनाइयों की तनिक भी चिन्ता न करते हुए उन्होंने बगड़ी शहर से विहार का विचार ठान लिया। बिहार कर जब बगड़ी शहर के बहिर-द्वारा के समीप आए तो बहुत जोरों से आंधी चलने लगी। विवेकी भीखणजी ने उसी समय विहार करना बंद कर दिया। जोर की हवा बहने के समय विहार करना उचित न समझ वे पास की जैतसिंहजी की छत्रियों में ठहरे।

आशा का धागा टूटा—

जब आचार्य रुघनाथजी को यह मालूम हुआ तो बहुत लोगों को लेकर वे वहां आए और भीखणजी से जोरों की चर्चा हुई। आचार्य रुघनाथजी ने कहा: यह पंचम आरा है, इसमें इतनी कठिनाई से निभाव

नहीं हो सकता, तुम्हें जिद छोड़ हमारे साथ आ जाना चाहिए। भीखणजी ने जवाब दिया कि पंचम आरा अवश्य है फिर भी धर्म में परिवर्तन नहीं हुआ है। इस आरे में भी हम उसको उसी सम्पूर्णता के साथ पाल सकते हैं जिस सम्पूर्णता के साथ वह पहिले पाला जाता था। आरे के बहाने को सामने रखकर शिथि-लाचार का पोषण नहीं किया जा सकता। यदि पहिले आरों में शिथिलाचार बुरा और निन्द्य था तो अब भी वह वैसा ही है। मैं तो प्रभु आज्ञा को शिरोधार्य कर शुद्ध संयम को पालूँगा। यह सुन कर आचार्य रुघनाथजी की निराशा का ठिकाना न रहा। उनकी आशा का अन्तिम धागा भी टूट गया। भीखणजी उनके प्रिय शिष्य थे। उनमें असाधारण विद्वता और प्रतिभा थी। ऐसे साधु का संघ में होना आचार्य रुघनाथजी के लिए गौरव का विषय था। भीखणजी के आशाशून्य उत्तर को सुन कर आचार्य रुघनाथ जी की आँखों में आँसू आ निकले। यह देख कर उदयभाणजी ने कहा 'आप एक टोले के नायक हैं आपको ऐसा नहीं करना चाहिए'। *आचार्य रुघनाथजी ने कहा—'किसी का एक जाता है तो भी उसे अपार फिकर होता है—यहाँ तो एक साथ पाँच जा रहे हैं।'*

आचाय रुघनाथजी के इस मोह को देख कर भी भीखणजी अपने निश्चय से विचलित न हुए। एक संघ में करीब ८ वर्ष तक रह जाने के कारण पारस्परिक प्रेम हो जाना संभव है। फिर भीखणजी तो अपने गुरु के विशेष स्नेहभाजन थे; फिर भी वे

डिगे नहीं। उन्होंने सोचा जिस दिन मैंने घर छोड़ा था उस दिन मेरी मा ने भी स्नेह के आंसू बहाए थे परन्तु मैंने उस दिन उन आंसुओं की परवाह न कर घरबार त्याग दिया तो अब इन आंसुओं की कीमत ही क्या है? यदि मैं इन के साथ रहूँ तो मुझे परभव में विशेष रोना पड़ेगा। यह सोच कर भीखणजी दृढ़ चित रहे।

अब आचार्य रुघनाथजी के क्रोध का पारवार न रहा।

आगे तू पीछे मैं—

भीखणजी की इस दृढ़ता से, अपने को एक टोले का अधिनायक समझने वाले, आचार्य के अभिमान को गहरा धक्का लगा। उन्हें क्रोध होना स्वाभाविक ही था। उन्होंने भीखणजी से कहा 'अच्छा तो अब तुम देखना, तुम्हारे कहीं भी पैर न जमने पाएँगे। तुम कहाँ जाओगे? तुम जहाँ जाओगे वहीं तुम्हारे पीछे मैं रहूंगा।'

भीखणजी ने आचार्य रुघनाथजी के इन क्रुद्ध वचनों का बड़ी ही शान्ति से जवाब दिया—'मुझे तो परिषह सहने ही हैं। इनके डर से मैं भयभीत नहीं हो सकता।—यह जीवन तो क्षण-भंगुर है।'

इसके पश्चात् भीखणजी ने निर्भयता के साथ बगड़ी से विहार

फिर चर्चाएँ—

कर दिया। आचार्य रुघनाथजी ने भी उनके पीछे पीछे विहार किया। वरलू में फिर गहरी चर्चा हुई। आचार्य रुघनाथजी ने कहा: 'यह पंचम आरा है, दुषम काल है, पूरा साधुपना नहीं पल सकता।'

भीखणजी ने जवाब में कहा—'दुषम काल में सम्यक् चारित्र पालन करने के उद्यम में कमी आने के बदले और अधिक बल और पुरुषार्थ आना चाहिए। भगवान ने जो पंचम आरे को दुषमकाल बतलाया है उसका अर्थ यह नहीं है कि इस काल में कोई सम्यक् रूप से धर्म का पालन ही न कर सकेगा पर उसका अर्थ यह है कि चारित्र पालन में नाना प्रकार की शारीरिक और मानसिक कठिनाइयाँ रहेंगी इस लिए चारित्र पालन के लिये बहुत अधिक पुरुषार्थ की आवश्यकता होगी। भगवान ने तो साफ कहा है: 'जो शिथिलाचारी और पुरुषार्थ हीन होंगे वे ही कहेंगे कि इस काल में शुद्ध संयम नहीं पाला जा सकता—बल संघयण हीन होने से पूरा आचार नहीं पाला जा सकता।' इस तरह भगवान ने आगे ही यह बात कह दी है कि वेषधारी ही ऐसे बहाने का सहारा लेंगे। इस लिए समय का दोष बतला कर शिथिलाचार का पोषण नहीं किया जा सकता'। यह सुन कर आचार्य रुघनाथजी को महान कष्ट हुआ फिर भी बात सत्य होने से इसका प्रत्युत्तर नहीं दे सके।

फिर उन्होंने एक दूसरी चर्चा छेड़ी। उन्होंने कहा : 'केवल दो घड़ी शुभ ध्यान करने और शुद्ध चारित्र पालन से ही केवल ज्ञान प्राप्त हो सकता है। इस संघ में रहते हुए भी यह किया जा सकता है अतः बाहर होने की आवश्यकता नहीं।'

भीखणजी ने कहा—'साधु जीवन केवल घड़ी दो घड़ी शुद्ध संयम पालने के लिये नहीं है परन्तु वह निरन्तर साधना है।

चारित्र की साधना में सच्चा साधु एक पल मात्र भी ढीला नहीं चल सकता। दो घड़ी शुभ ध्यान और चारित्र से केवल ज्ञान प्राप्त होने की बात अमुक अपेक्षा से है, वह सर्वत्र लागू नहीं हो सकती। यदि केवल ज्ञान पाना इतना सरल हो तब तो मैं भी श्वासोश्वास रोक कर दो घड़ी तक शुभ ध्यान कर सकता हूँ। प्रभव और शय्यंभव को केवल ज्ञान प्राप्त नहीं हुआ तब क्या उन्होंने दो घड़ी भी साधुपना नहीं पाला था? भगवान महावीर के १४ हजार साधु शिष्यों में केवल सात सौ ही केवली थे, तब तो आपके कथनानुसार यही हुआ कि उन्होंने दो घड़ी के लिए भी शुद्ध संयम नहीं पाला था। भगवान महावीर ने १२ वर्ष १३ पक्ष तक मौन ध्यान किया परन्तु केवल ज्ञान तो उन्हें इस दीर्घ तपस्या के बाद ही प्राप्त हुआ। क्या आप कह सकते हैं कि इस अवधि में दो घड़ी के लिए भी उन्होंने शुभ ध्यान नहीं ध्याया। इस लिए दो घड़ी में केवल ज्ञान प्राप्त करने की बात अमुक अपेक्षा से है। अमुक अपेक्षा से केवल दो घड़ी में केवल ज्ञान प्राप्त हो सकता है इसलिए यह जरूरी नहीं कि केवल दो घड़ी को इसके लिए रक्ख लिया जाय और शेष जीवन को शिथिलाचार में बिता दिया जाय। साधु को जीवन के प्रत्येक पल में जाकरूक रहने की आवश्यकता है। उसके जीवन का प्रत्येक पल संयम और तपस्या की निरन्तरता से सजीव रहना चाहिए। खाते-पीते, उठते-बैठते, सोते-जागते, चलते-फिरते— साधु के प्रत्येक कार्य में जागृति चाहिए तभी उसके नए कर्मों का

संचार रुकेगा,' इस तरह अनेक प्रकार की चर्चाएँ हुई परन्तु आचार्य रुघनाथजी के हृदय पर कोई असर न पड़ा।

गले तक डूबा—

आचार्य रुघनाथजी के जयमलजी नामक एक चाचा थे। वे भी एक टोले के नायक थे। वे प्रकृत्ति के बड़े ही सरल और भद्र थे। वे भीखणजी के पास आए। भीखणजी ने उनको सब बातें समझाई। जयमलजी भीखणजी के सिद्धांतों की सच्चाई से प्रभावित हुए और उन्हों ने भीखणजी के साथ होने का निश्चय किया। यह बात जब आचार्य रुघनाथजी के कानों तक पहुँची तो उन्होंने जयमलजी को भड़का दिया। आप भीखणजी के साथ मिल जायंगे तो आपका कोई अलग टोला न रहेगा। आपके साधु भीखणजी के साधु माने जायंगे। इससे भीखणजी का काम बन जायगा परन्तु आपका कोई नाम नहीं रहेगा! इस तरह की बातों को सुन कर जयमलजी के विचार फिर गये। भीखणजी के साथ मिलने का विचार छोड़ दिया। उन्होंने भीखणजी से अपनी असमर्थता को प्रगट करते हुए साफ शब्दों में कहा था—'भीखणजी! मैं तो गले तक डूब चुका हूँ, आप शुद्ध साधु जीवन का पालन कीजिए हमारे लिए तो अभी वह अशक्य ही है।' इस तरह आचार्य रुघनाथजी नाना प्रकार की बाधाएँ भीखणजी के मार्ग में उपस्थित करते थे परन्तु भीखणजी जरा भी विचलित नहीं हुए।

अब भीखणजी ने आत्मोद्धार के लिए फिर से दीक्षा लेने का विचार किया और इसके लिए वे दृढ़ता से तैयारी करने लगे।

ऋषि भारीमलजी साथ में--

भीखणजी के साथ भारीमलजी नाम के एक सत और इनके पिता कृष्णोजी भी थे। ये दोनों ही आचार्य रुघनाथजी के टोल में जब भीखणजी थे, तो उनके द्वारा प्रव्रजित किए गये थे। कृष्णोजी उग्र प्रकृति के थे। उनकी प्रकृति साधु जीवन के सर्वथा विपरीत थी। यह देख कर भीखणजी ने भारीमलजो को कहा कि तुम्हारे पिता साधु बनने के योग्य नहीं हैं, मैं नई दीक्षा लेने का विचार करता हूँ। हम लोगों का जोरों से विरोध होने की संभावना है। आहार पानी की कठिनाई पग-पग पर होगी। इन कठिनाइयों का सहने की हिम्मत कृष्णोजी में नहीं मालूम देती। साधु जीवन में वाणी के संयम की भी विशेष आवश्यकता है, इसका भी कृष्णोजी में अभाव है। इसलिए तुम्हारी क्या इच्छा है--मेरे साथ रहना चाहते हो या उनके पास ?

भारीमलजी ने दस वर्ष की अवस्था में दीक्षा ली थी। चार वर्ष तक वे आचार्य रुघनाथजी के टोले में थे। इस समय उनकी अवस्था केवल १४ वर्ष की थी। बालक भारीमलजी ने दृढ़ता के साथ कहा 'मैं आपके साथ ही रहूँगा। मुझे पिता से कोई सम्पर्क नहीं है। मैं तो संयम पालने का इच्छुक हूँ, मुझे आपका विश्वास है। मैं आपके साथ ही रहूँगा।' फिर भीखणजी ने कृष्णोजी से कहा--'हमारा संयम लेने का विचार है। चारित्र-

पालन बहुत मुश्किल है अतः हम आपको साथ नहीं रख सकते। कृष्णोजी ने कहा—यदि मुझे साथ नहीं रखते तो मेरे पुत्र को भी मुझे सौंप दीजिए। उसको आप नहीं ले जा सकते। भीखणजी ने कहा यह आप का पुत्र है, मैं मना नहीं करता—आप इसे अपने साथ ले जा सकते हैं मुझे इसमें कोई आपत्ति नहीं है। तब कृष्णोजी भारीमल्ल को लेकर दूसरी जगह चले गये। भारीमल्लजी पिता के इस कार्य से असन्तुष्ट थे। उन्होंने इस बात की प्रतिज्ञा कर ली कि मैं जीवन पर्यन्त कृष्णोजी के हाथ का आहार पानी नहीं लूँगा। इस तरह अनसन करते हुए दो दिन निकल गये परन्तु भारीमल्लजी पर्वत की तरह दृढ़ रहे। तब कृष्णोजी भी हतोत्साह हो गये और भारीमल्लजी को फिर भीखणजी के पास ला कर छोड़ दिया और कहा—'यह आप ही से राजी है, मुझसे तो यह जरा भी प्रेम नहीं करता। इसको आहार पानी लाकर दीजिए जिससे यह भोजन करे। इसका पूरा यत्न रखिएगा और आप संयम ले उसके पहिले मेरा भी कहीं ठिकाना लगा दें'। यह सुन कर भीखणजी ने कृष्णोजी को आचार्य जयमलजी के पास भेज दिया।

विहार करते-करते भीखणजी जोधपुर पहुँचे। यहाँ पहुँचते-पहुँचते उनके साथ तेरह साधु हो गये। इनमें पाँच आचार्य रुघनाथजी की सम्प्रदाय के, छः जयमलजी की सम्प्रदाय के तथा दो अन्य सम्प्रदाय के थे। इन साधुओं में टोकरजी, हरनाथजी, भारीमल्लजी, वीरभाणजी आदि सामिल

पंथ प्रतिष्ठा—

थे। इस समय तक १३ श्रावक भी भीखणजी की पक्ष में हो गये। जोधपुर के बाजार में एक खाली दुकान में श्रावकों ने सामायिक तथा पोषधादि किया। इसी समय जोधपुर के दिवान फतेहचन्दजी सिंघी का बाजार में से जाना हुआ। साधुओं के निर्दिष्ट स्थान को छोड़ बाजार के चोहटे में श्रावकों को सामायिक, पौषध आदि धार्मिक क्रियाएँ करते देख कर उन्हें आश्चर्य हुआ। उनके प्रश्न करने पर श्रावकों ने आचार्य रुघनाथजी से भीखणजी के अलग होने की सारी बात कह सुनाई तथा जैन शास्त्रों की दृष्टि से अपने निमित्त बनाए मकानों में रहना साधु के लिए शास्त्र-सम्मत नहीं है यह भी बताया। फतेहचन्दजी के पूछने पर यह भी बतलाया कि भीखणजी के मतानुयायी अभी तक १३ ही साधु हैं और श्रावक भी १३ ही हैं। यह सुन कर फतेचन्दजी ने कहा—'अच्छा जोग मिला है तेरह ही सन्त हैं और तेरह ही श्रावक ? सिंघीजी के पास ही एक सेवक जाति का कवि खड़ा था। वह यह सब वार्तालाप बड़ी दिलचस्पी के साथ सुन रहा था। उसने तुरन्त ही एक सवैया जोड़ सुनाया और तेरह ही साधु और तेरह ही श्रावकों के आश्चर्यकारी संयोग को देख कर इनका नामकरण 'तेरापंथी' कर दिया।

स्वामीजी की प्रत्युत्पन्न बुद्धि बहुत ही आश्चर्यकारी थी। उस सेवक कवि के मुख से आकस्मिक इस 'तेरापन्थी' नामकरण को सुन कर स्वामीजी ने बहुत ही सुन्दर रूप से उसकी व्याख्या की—'हे प्रभु ! तेरा ही पन्थ हमें पसन्द आया है इसलिए हम

तेरापन्थी हैं। तेरे पन्थ में पाँच महाव्रत, पाँच समिति, और तीन गुप्ति—ये तेरह बातें हैं, हम इन तेरह बातों को पूरी तरह मानते हैं और आचरण करते हैं अतः तेरापन्थी हैं। जिस मार्ग में गुणों को स्थान है—वेष को नहीं; जिसमें जीव चेतन पदार्थ और अजीव अचेतन पदार्थ अलग-अलग माने गये हैं; जिसमें पुण्य को शुभकर्म और पाप को अशुभकर्म माना गया है; जिसमें आश्रय को कर्म ग्रहण और संवर को कर्म निरोध का हेतु माना गया है; जिसमें निर्जरा को कर्म क्षय का हेतु और बंध को जीव और कर्म का परस्पर एकावगाह होना तथा मोक्ष को सम्पूर्ण सुख माना गया है वह तेरापन्थ है। जो व्रत और अव्रत, सावद्य और निरवद्य को अलग-अलग बतलाता हुआ, तेरी ही आज्ञा को धोरी मान कर चलता है वह तेरापन्थ नहीं तो किसका पन्थ है ?' इस तरह स्वामीजी ने 'तेरापन्थी' शब्द का एक अनुपम अर्थ लगा दिया। श्री जैन श्वेताम्बर तेरापन्थी सम्प्रदाय के नाम संस्करण का यही इतिहास है।

अब तेरह ही साधु नव दीक्षा लेने के लिए तैयार होने लगे।

महा प्रव्रज्या —

सबने मिल कर सिद्धान्तिक चर्चाएँ की। शास्त्रों का अच्छी तरह से मनन किया, परन्तु चातुर्मास आ जाने से कई विषयों पर पूरी चर्चाएँ न हो सकीं इसलिए भीखणजी ने कहा कि चौमासा समाप्त हो जाने पर फिर चर्चाएँ की जायँगी और जिनके श्रद्धा और आचार मिलेंगे वे सामिल रहेंगे बाकी अलग कर दिये जायंगे। इस तरह कह भीखणजी ने

सर्व साधुओं को चौमासा भोला दिया और आज्ञा दी कि आषाढ़ सुदी पुनम के दिन सब साधु नव दीक्षा ले लें। इसके बाद भीखणजी ने मेवाड़ की ओर प्रस्थान किया और केलवे पधारे। वहां सम्वत् १८१७, मिति आषाढ़ सुदी, १५ के दिन अरिहन्त भगवान की आज्ञा ले अठारह ही पापों का त्याग कर दिया और सिद्धों की साक्षी से नव दीक्षा ली। अन्य साधुओं ने भी फिर से नई दीक्षाएँ लीं। इस तरह तेरह महा प्रव्रज्याएँ हुई।

दीक्षा लेने के बाद केलवे में ही प्रथम चौमासा किया। यहीं पर आचार्य भीखणजी को अंधारी ओरी का कष्ट दायक उपसर्ग हुआ था। इस चौमासे में हरनाथजी, टोकरजी, और भारीमलजी ये तीन संत आचार्य भीखणजी के साथ थे।

चातुर्मास समाप्त होने पर सभी साधु एक जगह इकट्ठे हुए। बखतरामजी और गुलाबजी कालवादी हो गये और इसलिये शुरू से ही अलग हो गए। वीरभाण जी कई वर्षों तक आचार्य भीखणजी के मंत्री रूप में रहे परन्तु बहुत अधिक अविनयी होने से बाद में उन्हें दूर कर दिया गया। लिखमी चन्दजी, भारीमलजी, रूपचन्दजी और पेमजी भी बाद में निकल गये। केवल आचार्य भीखणजी, थिरपालजी, फतेहचन्दजी, टोकरजी, हरनाथजी, और भारीमालजी ये छः संत जीवन पर्यन्त एक साथ रहे और इनमें पारस्परिक खूब ही प्रेम रहा।

इस प्रकार मत की स्थापना तो हो गयी परन्तु आगे का मार्ग सरल न था। रास्ते में विपत्तियों के पहाड़ के पहाड़ खड़े थे। परन्तु आचार्य भीषणजी इन सब से विचलित होने वाले न थे। उन्हें तो केवल आत्म-साक्षात्कार की ही प्यास थी और इसके लिए वे अपने प्राणों तक की होड लगा चुके थे। पूज्य स्वामी जीतमलजी ने ठीक ही कहा है 'मरण धार शुद्ध मग लियो' अर्थात् प्राण देने तक का निश्चय करके ही उन्होंने यह काम उठाया था। खांड़े की धार पैनी थी फिर भी जीवन और मरण को पर्याय मात्र समझने वाले के लिए उस पर चलना जरा भी कठिन न था। स्वामीजी को नए मत की स्थापना करते देख कर आचार्य रुघनाथजी के क्रोध का पारा और भी गर्म हो गया। उन्होंने लोगों को नाना प्रकार से भड़काना शुरू किया। आचार्य भीखणजी को जगह-जगह से जमाली और गोशाले की उपमाएँ मिलने लगीं। कोई कहता 'यह निन्हव है इसका साथ मत करना' कोई कहता 'इन्होंने देवगुरु को उत्थाप दिया है, दया दान को उठा दिया है और जीव बचाने में अठारह पाप बतलाते हैं।' इस तरह आचार्य भीखणजी जहाँ पहुँचते वहाँ विरोध ही विरोध होता। कोई प्रश्न करने के बहाने और कोई दर्शन करने के बहाने आकर उनको खरी खोटी सुना जाता। इस तरह उनको अनेक कष्टों का सामना करना पड़ा। परन्तु आचार्य भीखणजी क्षमा-शूर थे। उन्होंने बिना किसी के प्रति द्वेष भाव लाए, सम भाव पूर्ण सहनशक्ति के साथ इन सब यातनाओं को झेला।

महान भिक्षुक—

आचार्य रुघनाथजी ने लोगों को यहाँ तक भड़का दिया था कि भीखणजी को उतरने तक के लिए स्थान नहीं मिलता था। चिकने चुपड़े आहार की तो बात ही क्या रूखा सूखा आहार भी भर पेट नहीं मिलता था। पीने के पानी के लिए भी कष्ट उठाना पड़ता था पर विघ्नबाधाओं से स्वामीजी तनिक भी नहीं घबराए— मार्गच्युत होने की बात तो दूर थी। स्वामीजी पर आई हुई इन्हीं विपत्तियों का वर्णन करते हुए श्रीमद् जयाचार्य ने लिखा है:—

पंच वर्ष पहिछान रे, अन्न पण पूरो ना मिल्यो,
बहुल पणे वच जाण रे, घी चोपड़ तो जिहांई रह्यो।
भारी गुण भिक्खु तणा, कह्या कठा लग जाय,
मरणधार शुद्ध मग लियो, कमिय न राखी काय॥

इस तरह नाना प्रकार की कठिनाइयाँ एक दिन नहीं दो दिन नहीं परन्तु लगातार वर्षों तक आचार्य भीखणजी और उनके साथी साधुओं को सहनी पड़ी थी, पर स्वामीजी ने उनके सामने कभी मस्तक नहीं झुकाया।

इस प्रकार वे विपदाओं से लड़ते और दुष्ह परिषहों को सम-भाव पूर्वक सहन करते जाते थे। भग-

लोम हर्षक तपस्या और कष्ट सहन—

वान ने सच्चे धर्म पर श्रद्धा होना महा दुर्लभ बतलाया है। वर्षों से आते हुए संस्कारों और विचारधारा को हटा कर नवीन और शुद्ध विचार

धारा को जनता के जीवन में उतरना कोई सरल कार्य नहीं है और खास कर उस समय जब कि लोगों में हद दर्जे की जड़ता जड़ जमाए हुए पड़ी हो और जहाँ विचार शक्ति के स्थान में केवल अध शक्ति और स्थिति पालकता ही हो। आचार्य भीखणजी ने लोगों की अन्ध श्रद्धा और ज्ञान हीनता को देखकर विचार किया कि धर्म प्रचार होने का कोई रास्ता नहीं दीखता। लोग जैन धर्म से कोसों दूर पड़े हैं। जैन आचार और विचार का पूर्ण अभाव है। अधिकांश लोग गतानुगतिक हैं और सत्यासत्य का निर्णय विवेक वुद्धि से नहीं परन्तु अर्शे से चली आती विचार परम्परा से करते हैं। ऐसे वातावरण में धर्म प्रचार का प्रयत्न करना व्यर्थ है। इस प्रयत्न में समय और परिश्रम व्यर्थ न खो अब मुझे अपनी ही आत्मा के कल्याण के लिए सर्वतोभाव से लग जाना चाहिए। इस कठिन मार्ग में साधु साध्वियों का होना मुश्किल है अतः अब दूसरों को इस सच्चे मार्ग पर लाने की चेष्टा करना निरर्थक है। इस प्रकार विचार कर उन्होंने सब सन्तों के साथ एका-न्तर उपवास करना आरम्भ कर दिया तथा धूप में आतापना लेनी शुरू की। सब सन्त चारों आहारों के त्याग पूर्वक उपवास करते और सूर्य की कड़ी धूप में तपश्चर्या करते। यह लोमहर्षक तपस्या महिनों तक चली। साधुओं के शरीर अस्थिपिंजर होने लगे परन्तु जीवन शुद्धि का यह यक्ष परोक्ष रूप से जीवन की अमरता वेली को हरा भरा कर रहा था। आचार्य भीखणजी और उनके सन्तों की यह कपित करने वाली तपस्या मानो वही

दुर्जय युद्ध था जिसका वर्णन उत्तराध्ययन की इन गाथा में किया गया है:—

> जो सहस्सं सहस्साणं संगामे दुज्जए जिणे।
> एगं जिणेज्ज अप्पाणं एस से परमो जउ॥
> अप्पाणमेव जुज्झाहि किं ते जुज्झेण बज्झउ।
> अप्पाणमेवमप्पाणं जइत्ता सुहमेहए॥

आचार्य भीखणजी की इस लोमहर्षक तपस्या का प्रभाव धीरे-धीरे जनतापर पड़ता जाता था। अब लोगों ने समझा कि जो शुद्ध जीवन यापन के लिए अपने प्राणों तक को अपनी हथेली में रखता है, वह एक कितना बड़ा त्यागी और महान पुरुष है। आचार्य भीखणजी की निर्भीकता, उनकी त्याग और तपस्या लोगों की सहानुभूति उनकी ओर खींचने लगी। भोजन और पानी की कठिनाइयां उपस्थित कर जो आचार्य भीखणजी को डिगाना चाहते थे उनको उन्होंने यह पदार्थ पाठ सिखाया कि भूख और प्यास की कठिनाइयों से वे डिगनेवाले नहीं हैं। इनकी वह जरा भी परवाह नहीं करते। खाने-पीने की चीजों का तो वे और उनके साधु स्वेच्छा पूर्वक त्याग कर सकते हैं। उनका जीवन खाने-पीने के सुख के लिए नहीं है, परन्तु संयमी जीवन की कठिनाइयों को सहने के लिए। आचार्य भीखणजी की इस तपस्या से लोगों में श्रद्धा जागी। लोगों ने सोचा कम-से-कम उनकी बात तो सुननी

दिया—'मोदक खांडा आवश्यक है, फिर भी वह चौगुणी का है अतः उसका स्वाद अनुपम है।' इसके थोड़े ही दिनों बाद स्वामीजी के संघ में तीन श्रमणियाँ प्रव्रजित हुईं। तीन महिलाएँ एक ही साथ स्वामीजी के पास दीक्षित होने के उद्देश्य से आईं। जैन सूत्रों के अनुसार कम-से-कम तीन साध्वियाँ एक साथ रहनी आवश्यक हैं अतः स्वामीजी ने विचार किया कि यदि प्रव्रज्या लेने के पश्चात् इनमें से एक भी साध्वी का किसी कारण से वियोग हुआ तो एक कठिक परिस्थिति उत्पन्न हो जायगी और उस अवस्था में बाकी दो साध्वियों को संलेषणा करने के अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं रह जायगा। इस बात को स्वामीजी ने उन दीक्षार्थी बाइयों के सम्मुख रखा और दीक्षा लेने के पूर्व इस बात पर गंभीरता पूर्वक विचार कर लेने को कहा। तीनों ही ने इस बात को स्वीकार किया कि उनमें किसी एक का भी वियोग हुआ तो शेष संलेषणा कर अपने शरीर का त्याग करने के लिए तैयार रहेंगी। इसके बाद स्वामीजी ने उनको योग्य समझ प्रव्रजित किया। इन साध्वियों का नाम कुशलांजी, मटुजी और अजबूजी था। इस तरह अपने साधु सम्प्रदाय में जरा-सी भी कमजोरी को स्थान दिए बिना और शिथिलाचार को बिलकुल दूर करते हुए आचार्य भीखणजी निरन्तर जागरुकता और परम विवेक के साथ अपने मार्ग को दीपा रहे थे। अपने साधु साध्वियों की संख्या खूब अधिक हो इसकी ओर उनका जरा भी ध्यान न था। वे तो चाहते थे कि

साधु और साध्वियाँ चाहें कम ही रहें पर वे हों ऐसे जो आदर्श, चारित्र और संयममय जीवन का ज्वलन्त उदाहरण जनता के सन्मुख उपस्थित कर सकें और मौका आवे तो इनकी रक्षा के लिए अपने प्राणों का भी मोह न करें। स्वामीजी भगवान के प्रवचनों को ही अपने जीवन का दिशा यंत्र समझते थे और उनकी एक भी क्रिया ऐसी न होती थी जो इस यंत्र के अनुसार न हो। उनका विवेक हद दर्जे का था। प्रत्येक कार्य में वे आगे की सोचा करते थे। इसलिए उन्होंने साध्वियों के सम्मुख उनके भविष्य जीवन में आ सकने वाली संभावना को साफ शब्दों में प्रगट कर दिया था। केवल शुरू में ही नहीं परन्तु अन्त तक भगवान के बताए हुये मार्ग के अनुसार ही संघ का संचालन हो इसका उन्हें खूब ध्यान था।

अदृष्ट का आभास और महा प्रस्थान की तैयारी-

स्वामजी का अन्तिम चातुर्मास शिरियारी में हुआ। उस समय स्वामीजी के साथ ६ सन्त और थे—(१) भारीमलजी (२) खेतसीजी (३) उदैरामजी (४) ऋषि रायचन्दजी (५) जीवोजी और (६) भगजी। ये सप्त ऋषि चाणोद से पींपाड़ तक बिहार करते हुए सोजत, कँटालिया और बगड़ी होकर शिरियारी पधारे। यहीं सं० १८६० की भाद्र शुक्ला त्रयोदशी को स्वामीजी का देहान्त हुआ था। अन्त समय तक स्वामीजी के हद दर्जे की आत्म-जागरूकता और आत्म-समाधि रही। यों तो उनकी भावनाएँ सदा ही निर्मल रहती थीं, परन्तु अन्त समय में उनकी निर्मलता

दर्शन की वस्तु थी। उन्होंने मृत्यु को बड़ी प्रसन्नतापूर्वक झेला था। उस समय उनकी निर्भीकता, दृढ़ता, आत्म-जागृति और सहजानन्द को देखते हुए उन्हें मृत्युञ्जय कहा जाय तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी।

स्वामीजी शिरियारी में पधारे थे उस समय तक उनके शरीर में कोई रोग नहीं था। वृद्ध होने पर भी उनकी इन्द्रियाँ कार्यकारी थीं। उनकी चाल तेज थी। उस समय तक वे बड़ा परिश्रम किया करते थे। रोज स्वयं गोचरी पधारा करते थे। धार्मिक चर्चा में विशेष भाग लेते थे। शिष्यों को लिख-लिख कर स्वयं आवश्यक सूत्र का अर्थ बताया करते। श्रावण सुदी १५ के बाद स्वामीजी के कुछ दस्त की शिकायत रहने लगी। दवा सेवन से कोई लाभ नहीं हुआ। पर्युषणपर्व के दिन आये तब स्वामीजी विमारी की हालत में ही सुबह, मध्याह्न और रात्रि में धार्मिक उपदेश और व्याख्यान दिया करते, खुद गोचरी जाते तथा 'पंचमी' भी बाहर पधारा करते थे। बीमारी कोई भयानक नहीं दिखती थी और न लोगों ने इसे भयानक समझा था। भाद्र शुक्ला चौथ की बात है। स्वामीजी को ऐसा मालूम हुआ जैसे शरीर ढीला पड़ गया हो और उन्होंने अनुमान से समझा कि अब आयु नजदीक है। स्वामीजी ने खेतसीजी से कहा—'तुम, भारीमल और टोकरजी बड़े सुविनीत शिष्य हो। तुम लोगों के सहयोग से मुझे बड़ी समाधि रही है और मैंने संयम का अच्छी तरह से पालन किया है।' और फिर स्वामीजी

ने अकस्मात् ऋषि भारीमलजी आदि सन्तों को श्रावक श्राविकाओं के बैठे हुए बड़ा मार्मिक उपदेश दिया। यह उपदेश संघ संचालन के लिए जितना महत्वपूर्ण और उपयोगी है, उतना ही आत्मदर्शी मुमुक्षु साधु श्रावकों के लिए मार्ग प्रदर्शक और अमोल है। उसका सार इस प्रकार है:—

१—जिस तरह तुमलोग मुझे समझते रहे और मेरे प्रति तुम लोगों की प्रतीति थी, वैसे ही ऋषि भारीमल के प्रति रखना।

२—शिष्य भारीमल सब सन्त सतियों का नाथ है उसको आचार्य मान, उसकी आज्ञा की आराधना करना। उसकी मर्यादा का लोप मत करना।

३—ऋषि भारीमाल की आण लोप कर जो गण बाहर निकले, उसे साधु मत समझना; जो इसकी आण को शिरोधार्य करे और सदा सुविनीत रहे, उसकी सेवा करना। यह जिन मार्ग की रीति है।

४—ऋषि भारीमाल को भार लायक जान कर ही आचार्य पदवी दी है। इसकी प्रकृति शुद्ध और निर्मल है। ऋषि भारीमाल में शुद्ध साधु की चाल है और वह शुद्ध साधुव्रत पालन का कामी है। इसमें कोई शंका को स्थान नहीं है।

५—शुद्ध साधुओं की सेवा करना; अनाचारियों से दूर रहना; जो कर्म संयोग से अरिहंत भगवान और गुरु आज्ञा का

लोप करें, उन अपछन्दों-स्वेच्छाचारियों को वन्दना योग्य मत समझना।

६—उसन्नों, पासत्थों, कुशीलियों, प्रमादी और अपछन्दों का संग न करना। इन्होंने भगवान की आज्ञा को लोप दिया है। जिन भगवान ने ज्ञाता सूत्र में इनके संग करने का निषेध किया है। जिन भगवान की आज्ञा के पालन से परम पद मिलता है। आनन्द श्रावक के अभिग्रह के मर्म को समझ कर उसके अनुसार आचरण करना।

७—सब साधु साधवियाँ परस्पर में विशेष प्रीतिभाव रखना। एक दूसरे के प्रति राग द्वेष मत करना और कभी दलबंदी न करना।

८—दिल देख-देख कर शुद्ध दीक्षा देना और ऐरे गैरे हर किसी को गण में मत मूंड़ना।

९—कोई सूत्र की बात समझ में न आवे तो उसको लेकर खींचातान मत करना; मन में संतोष कर उसे केवलियों को भोला देना।

१०—किसी बोल की थाप गुरू की आज्ञा विना स्वछन्द मत से मत करना।

११—एक, दो, तीन आदि कितने ही गण से क्यों न निकल जायं उनकी परवाह न करना, उन्हें साधु मत समझना और शुद्धतापूर्वक साधु-आचार का पालन करते जाना।

१२—सब एक गुरु की आज्ञा में चलना; इस परस्परा रीति

को मत छोड़ना; आगे जो लिखत किया है उसका बराबर पालन करना।

१२—कोई साधु दोष सेवन कर झूठ बोले और प्रायश्चित न ले तो उसे गण से दूर करना।'

अकस्मात् इस उपदेश को सुन कर संतों के आश्चर्य का ठिकाना न रहा। संतों ने इसका कारण पूछा, तब स्वामीजी ने

१—स्वामीजी का उपरोक्त उपदेश, कई विचारक बन्धुओं का कहना है कि, विचार-स्वातन्त्र्य का गला घोंटता है। स्वामीजी के उपरोक्त बोध में से केवल नं० २,३ और ९ को ही उद्धृत कर उस पर टिप्पणी करते हुए 'ओसवाल नवयुवक' के विद्वान् सम्पादक श्री भंवरमलजी सिंघी ने इसी मासिक पत्र के ९ वें वर्ष के ८ वें अङ्क में लिखा था :

"यदि उक्त आचार्य के इन उपदेशों का ध्यान में रख कर हम उनके सम्प्रदाय-विच्छेद के कार्य को देखें तो वे स्वयं अपने उपदेशों से गुरु की आज्ञा को उलङ्घन करनेवाले अविनयी सिद्ध होते हैं। उन्होंने ही अपनी शङ्का को खींचातान के बदले क्यों नहीं केवली को भोला दिया? लेकिन नहीं, जड़ता तो साम्प्रदायिकता के साथ रहनेवाला अनिवार्य पाप है। वास्तव में जो उक्त आचार्य ने किया वह उनकी आत्मा के बल का परिचायक था, पर जो उपदेश दिया वह निर्बलता, साम्प्रदायिकता और जिन मार्ग विपरीतता थी। जिस भी आचार्य ने ऐसा किया है— और लगभग सभी सम्प्रदायाचार्यों ने ऐसा किया है—वे सभी इस दोष के भागी हैं।"

परन्तु गम्भीरतापूर्वक देखने से पता चलेगा कि उपरोक्त उद्गार विशेष सोच-विचार कर प्रकट नहीं किए गये हैं, उनके पीछे जैन-धर्म के आचार-

जवाब में कहा था—"मेरा तन अब ढीला पड़ गया है। मुझे परभव नजदीक मालूम दे रहा है, इसलिए यह सीख है। मेरे मन में और कोई आशंका या भय नहीं है। मेरे हृदय में परमानन्द है, तुम लोगों के सहयोग से मुझे पूर्ण समाधि रही है। मैंने अनेक मुमुक्षु जीवों के हृदय में अमोल समकित रूपी बीज को लगाया है। मैंने अनेकों को बारह व्रत आदरवाये हैं तथा अनेकों

विचार सम्बन्धी गहरा अज्ञान रहा हुआ है। जैन शास्त्रों में जगह-जगह गुरु के विनय करने की बात आयी है। जिस तरह अग्निहोत्री ब्राह्मण अग्नि की शुश्रूषा करने में सावधान रहता है, उसी प्रकार शिष्य को अपने गुरु की सेवा करने के लिए सावधान रहना चाहिये। शिष्य गुरु की आज्ञा अनुसार कार्य करे और गुरु का अपमान न करे। इस तरह के वाक्य जगह-जगह आए हैं परन्तु इन वाक्यों का उद्देश्य कुगुरुओं का विनय करते रहने चाहिए—यह नहीं है। उसी प्रकार स्वामीजी के वचनों से यह अर्थ नहीं निकालना चाहिए कि स्वामीजी ने उस विचार-स्वतन्त्रता का गला घोंटा था जो स्वतन्त्रता भ्रष्टाचारी गुरु के प्रति बलवा करने के लिए प्रेरित करे। स्वामीजी ने एक आदर्श साधु संस्था को खड़ा किया था। ऋषि भारीमालजी को उन्होंने भारलायक समझा था उनमें शुद्ध साधु की चाल देखी थी तथा आचार पालन की नीति देखी थी इसलिए उन्हें पूज्य मान कर उनकी आज्ञा में चलने का उपदेश दिया था—यह स्वामीजी के उन उपदेश वाक्यों से प्रगट है, जो कि उद्धरण में छोड़ दिए गये हैं और जिन पर कोई प्रकाश नहीं डाला गया है। अपने उपदेश में उन्होंने यह भी कहा था—जो साधु लिए हुए व्रतों का पालन न करे—दोष का सेवन

को साधु प्रव्रज्या में दीक्षित किया है। मैंने सूत्र और न्याय के अनुसार अनेक ढालें रची हैं। मेरे मन की अब कोई बात बाकी नहीं रही है। तुम लोगों से भी मेरा यही उपदेश है कि स्थिर चित्त रख कर भगवान के मार्ग का अनुपालन करना, कुमति और क्लेश को दूर कर आत्मा को उज्ज्वल करना, एक अणी भर भी चूके बिना शुद्ध आचार की आराधना करना, पाँच समिति,

---

करे और मालूम पड़ जाने पर भी उसका यथोचित प्रायश्चित्त न ले तो किसी प्रकार की खातिर करे बिना उसे गण बाहर कर देना। स्वामीजी ने ऋषि भारीमालजी के लिए अलग नियम रख दिया था यह कहीं नहीं मिलता। उनमें कोई दोष दिखाई दे तो भी उपेक्षा करते जाने का उन्होंने साधुओं को उपदेश नहीं दिया था। उन्होंने जगह-जगह कहा है: जैन धर्म में *गुणों को पूजा है वे मार्ग दूसरे हैं जो निर्गुणों की पूजा करते हैं।* सोने की छुरी सुन्दर होने पर भी उसे कोई पेट में नहीं मारता उसी प्रकार कुल-परम्परागत गुरु भी यदि भ्रष्टाचारी हो और कुगतिको पहुँचानेवाला हो तो वह पूजनीय नहीं है। स्वामीजी के ये वाक्य भी सबके लिए थे। अपनी सम्प्रदाय के बाद में होनेवाले आचार्यों के सम्बन्ध में उन्होंने दूसरा नियम नहीं किया था। उनके सम्बन्ध में कोई छूट नहीं रखी थी फिर उपरोक्त उद्गारों को प्रगट करने की कोई भित्ति नहीं है। भावावेश में आकर लेखक ने एक बहुत बड़ा अन्याय कर डाला है। स्वामीजी ने यह भी उपदेश दिया था कि दिल देख-देख कर दीक्षा देना, हर किसीको मत मूण्ड लेना। इसमें गुणों को प्रथम देखने की हिदायत की है फिर वह कौन-सी स्वतन्त्रता है जिसका स्वामीजी ने गला घोंटा था और जिसको लेकर यहां

तीन गुप्ति और पाँच महाव्रत का पूर्ण जागरूकता के साथ पालन करना, शिष्य-शिष्या तथा वस्त्र-पात्र आदि उपधियों पर मूर्छा मत करना, प्रमाद को दूर करना; संयम के वातावरण में शुद्ध मन से विहार करना, पुद्गल-ममता के प्रसंगों को तन, मन से दूर करना।" इस प्रकार स्वामीजी ने अनुपम उपदेश किया, मानो अमृत का झरना खोल दिया हो। यह उपदेश आज भी स्वर्णाक्षरों में अंकित करने योग्य है।

ऋषि रायचन्दजी को स्वामीजी ब्रह्मचारी के नाम से सम्बोधित किया करते थे। उनसे कहा—'तुम बुद्धिमान बालक हो,

---

तक लिख दिया गया है कि स्वामीजी का यह उपदेश जिन मार्ग विपरीतता थी ? दसवैकालिक सूत्र में लिखा है : "आदर्श साधु असंयमियों की सेवा नहीं करता, उनका अभिवादन नही करता, उनको वन्दन नमस्कार नहीं करता। परन्तु वह असंयमी के सङ्ग से मुक्त हो ऐसे आदर्श साधुओं के संघ में रहता है जिससे कि उसके चारित्र को हानि न हो।" उपरोक्त उपदेश को देते समय स्वामीजी के सामने कठिन संयमी भगवान महावीर के उपरोक्त तथा सूत्रों में जगह-जगह आए ऐसे ही अन्य प्रवचन रहे होंगे। इन उपदेशों में एक बहुत बड़ा परमार्थ था। स्वामीजी अपने गण को आपात पवित्र समझते थे। उसको शुद्ध जिन-शासन के रूप में खड़ा करने का उन्होंने जीवन भर प्रयत्न किया था और उस रूप में उसे खड़ा करने में सफल भी हुए थे। 'जिन शासन' मूल में चलता रहे उसमें विकार न आय इस दृष्टि से ही उन्होंने उपरोक्त नियम किए थे। कोई भावावेश में आकर, उनमें गहरी साम्प्रदायिकता का भले ही दर्शन करें परन्तु वे केवल

मोह मत करना। ऋषि ने जवाब दिया आप तो अपने जन्म को सार्थक कर रहे हैं फिर मैं मोह क्यों करने लगा?

इसके बाद में स्वामीजी ने तीव्र आत्म आलोचना की तथा जान-अजान में कोई पाप हो गया हो तो उसके लिए 'मिच्छामि दुकडं' किया। चन्द्रभाणजी, तिलोकचन्दजी आदि जो गण बाहर हो गये थे उनके नाम लेकर क्षमत क्षामना किया। कहने का तात्पर्य यह है कि उन्होंने तलस्पर्शी आत्म-निरीक्षण कर जीवन शुद्धि की। स्वामीजी की इस आलोचना का सार

उग्र आत्मनिरोक्षण और अनशन—

एक मात्र इसी उद्देश्य से दिए गये थे कि भगवान का शासन जयवन्ता रहे—वह दिन-दिन प्रगति करता जाय; गुणों की पूजा हो, निर्गुणों का सत्कार न हो। केवली को भोला देने की बात भी व्यर्थ के वितण्डावाद को कम करने के गम्भीर हेतु से कही गई थी। स्वामीजी खुद ने सूत्रों के ऐसे बोलों को केवली को भोलाया था जिनका आशय स्पष्ट रूप से समझ में नहीं आया था। इसका आसय यह न था कि आचार-विचार में शिथिलता आ जाय और सूत्र के वचनों से यह प्रगट हो कि वास्तव में शिथिलाचार का सेवन किया जा रहा है तो भी अपनी शंकाओं को केवली को भोला देना! स्वामीजी की पंक्तियों का ऐसा अर्थ करना तो अनर्थ करना होगा, बुद्धि को ताक पर रखना होगा। उसका अर्थ तो साफ और सीधा है और वह इतना ही है कि कोई ऐसा बोल हो जिसका अर्थ समझ में नहीं आता हो तो उसको लेकर खींचातान नहीं करनी चाहिए—व्यर्थ शब्दों के झगड़ों में न पड़ उसे केवली गम्य समझ कर सन्तोष करना चाहिए।

श्रीमद् जयाचार्य ने 'भिक्षुजश रसायन' नामक जीवन चरित्र में दिया है। उसके पढ़ने से परम शान्ति और आत्मानन्द मिलता है। इस आलोचना के सम्बन्ध में श्रीमद् जयाचार्य ने लिखा है—'ऐसी आलोचना कान में पड़ने से ही अत्यन्त वैराग्य उत्पन्न होता है और जो ऐसी आलोचना करता है उसका तो कहना ही क्या ? उसके बड़े भाग हैं।'

यह चौथ की बात है। पञ्चमी के दिन स्वामीजी ने चौविहार उपवास किया। तृषा से बड़ी असाता उत्पन्न हुई, परन्तु स्वामीजी ने समचित से उसे सहन किया। छठ के दिन बहुत थोड़े आहार से पारणा किया परन्तु तुरन्त ही वमन हो गया। स्वामीजी ने उस दिन के लिए तीनों आहार का त्याग कर दिया। ७ मी तथा ८ मी को भी अल्पाहार लेकर त्याग कर दिया। खेतसीजी ने स्वामीजी से इस प्रकार त्याग न करने के लिए आग्रह किया परन्तु स्वामीजी ने कहा अब देह को क्षीण करना चाहिए तथा वैराग्य को बढ़ाना चाहिए। ९ वीं तथा १० वीं को क्रमशः संत खेतसीजी तथा भारमालजी के अनुरोध से थोड़ा आहार चख कर तुरन्त आहार का त्याग कर दिया। ११ के दिन अमल और पानी के सिवा सब आहार का त्याग कर दिया। बारस के दिन बेला किया। इस प्रकार शरीर-ममता का त्याग करते हुए तथा पौद्गलिक सुखों को ठुकराते हुए स्वामीजी संथारे की तैयारी करने लगे। इसके लिए उनकी जागरूकता हद दर्जे की थी। इधर शरीर-पुद्गल ज्यों-ज्यों

ढीले पड़ते जा रहे थे, उधर उनकी आत्मा उतनी ही अधिक जागरूक और मजबूत बनती जा रही थी। शरीर-शक्ति और आत्म-शक्ति में कठोर द्वन्द्व हो रहा था।

अन्तिम बेला—

सोमवार भाद्र शुक्ला बारस का दिन था। स्वामीजी लेट रहे थे। उस समय संत रायचन्दजी जिन्हें स्वामीजी 'ब्रह्मचारी' नाम से पुकारा करते थे, आए और स्वामीजी को दर्शन देने का अनुरोध किया। स्वामीजी ने नेत्र खोले और अपना हाथ संत रायचन्दजी के मस्तक पर रख दिया। बुद्धिमान बालक संत रायचन्दजी ने स्वामीजी की हालत देख कर उनसे कहा, 'स्वामीनाथ! आपके पराक्रम क्षीण पड़ रहे हैं।' यह सुनते ही स्वामीजी चौंक बैठे जैसे सोया हुआ सिंह जागा हो। अपने शरीर की सारी शक्ति बटोर कर वे उठ बैठे। पुद्गलों के साथ यह कैसा तुमुल युद्ध था, कैसी चमत्कार पूर्ण आत्म-जागृति और आत्म-साधना थी। उसी समय स्वामीजी ने भावी आचार्य भारीमालजी तथा अन्य संतों को अपने पास बुलाया और उनके पहुँचते ही अरिहन्त भगवान को नमोत्थुणं कर श्रावक श्राविकाओं के सामने उच्च स्वर में याव-ज्जीव तीन आहार का त्याग कर संथारा कर दिया। शिष्यों ने अमल का आगार रख लेने को कहा, परन्तु स्वामीजी ने जवाब दिया अब आगार किस लिए? अब शरीर की क्या सार करनी है? यह घटना प्रायः दो घड़ी दिन रहते की है। रात्रि में ऋषि भारीमालजी को व्याख्यान देने की आज्ञा की।

ऐसी परिस्थिति में व्याख्यान देना कोई सहज बात न थी! भारीमालजी ने कहा—'स्वामी, आपके संथारे में हमारे व्याख्यान की क्या विशेषता है।' परन्तु स्वामीजी ने कहा—'जब दूसरे संत और सतियाँ संथारा करते हैं तो उनके सामने व्याख्यान देते हो फिर मेरे सामने क्यों नहीं देते ?'

इस तरह स्वामीजी ने व्याख्यान दिलवाया और उसे मनोयोग पूर्वक सुना। रात व्यतीत हुई। सुबह स्वामीजी ने कुछ जल ग्रहण किया और फिर ध्यानस्थ हो गये। इस समय एक आश्चर्यकारी घटना हुई। करीब १॥ पहर दिन चढ़ा होगा, तब स्वामीजी ने कहा—'साधु और बारह साध्वियाँ आ रही हैं, उनके सामने जाओ।' स्वामीजी की इस बात का अर्थ भिन्न २ लगाया जाने लगा। कइयों ने समझा कि स्वामीजी का ध्यान साधुओं में लगा हुआ है, इसलिए ऐसा कहा है। परन्तु कुछ ही समय बाद दो साधु आ पहुँचे जो तृषा से अत्यन्त व्याकुल हो रहे थे और फिर साध्वियाँ भी पहुँचीं। लोगों के आश्चर्य का ठिकाना न रहा। स्वामीजी ने यह बात किस तरह कही, यह कोई भी न जान सका। इस घटना पर टिप्पणी करते हुए जय महाराज ने लिखा है कि स्वामीजी ने यह बात अटकल अन्दाज से कही थी या उन्हें अवधिज्ञान उत्पन्न हुआ था, यह निश्चय पूर्वक तो केवली ही जाने परन्तु उनकी बात अवश्य मिली थी। आए हुए साधु साध्वियों ने स्वामीजी को वंदना की और स्वामीजी ने उनकी वंदना को स्वीकार किया।

स्वामीजी को लेटे हुए बहुत देर हो गयी थी, इसलिए संतों ने उनकी इच्छा से उन्हें बैठा कर दिया। स्वामीजी ध्यानासन में बैठे थे। उस समय उनके कोई असाता नहीं मालूम पड़ रही थी। सन्त उनके पास बैठे गुणगान कर रहे थे। चारों ओर श्रावक श्राविकाएँ दर्शन कर रही थीं। इस तरह बैठे-बैठे ही अचानक स्वामीजी की आयु अवशेप हुई। परम समाधिपूर्वक स्वामीजी का देहावसान हुआ। यह भादवा सुदी, १३ मंगलवार का दिन था और सूर्यास्त में प्रायः १॥ पहर बाकी थी।

जीवन सम्बन्धी खास-खास बिगतें—

स्वामीजी घर में करीब २५ वर्ष, आचार्य रुघनाथजी के साथ आठ वर्ष और अवशेष प्रायः ४४ वर्ष तक तेरापन्थी सम्प्रदाय के नायक रूप में रहे। उनका देहावसान ७७ वर्ष की अवस्था में हुआ। स्वामीजी ने कुल ५१ चौमासे किए। आठ चौमासे आचार्य रुघनाथजी के पास रहते हुए किए, अवशेष ४३ चौमासे शुद्ध संयम में किए। इन का ब्यौरा निम्न प्रकार है :

चौमासों की	संख्या	सम्वत्
१—केलवे	६	१८१७,२१,२५,३८,४६,५८
२—बरलू	१	१८१८
३—राजनगर	१	१८२०
४—कटांलिया	२	१८२४,१८२८
५—बगड़ी	३	१८२७,३०,३६
६—माधोपुर	२	१८३१,४८

	चौमासों की संख्या	सम्वत्
७—पींपाड़	२	१८३४,४५
८—आंबेर	१	१८३५
९—पादु	१	१८३७
१०—सोजत	१	१८५३
११—श्री जी द्वार	३	१८४३,५०,५६
१२—पुर	२	१८४७,५७
१३—खेरवे	५	१८२६,३२,४१,४६,५४
१४—पाली	७	७१८२२,३३,४०,४४,५२, ५५,५९
१५—सिरियारी		१८१९,२२,२९,३९,४२,५१,६०

स्वामीजी ने कुल ४८ साधु और ५६ साध्वियों को प्रव्रजित किया जिसमें से २८ साधु और ३९ साध्वियाँ कठिन नियमों का पालन न कर सकने या न करने से गण च्युत हो गयी या कर दी गईं।

स्वामीजी ने अपने पीछे मूलागम अनुसार निर्दोष साधुव्रत पालन करने वाले तपस्वी साधुओं का एक बड़ा सम्प्रदाय छोड़ा था। इस साधु सम्प्रदाय में धुरन्धर विद्वान, महान् तपस्वी, असाधारण तत्त्वज्ञानी और आत्मज्ञ साधु थे।

उनके श्रावकों में शोभजी, टीकमजी डोसी, गेरूलालजी व्यास आदि प्रसिद्ध हैं।

मारवाड़, मेवाड़, ढूंढाड़ और हाडोती इन चार देशों में ही

स्वामीजी का विहार हुआ था। कच्छ में धर्म-प्रचार का कार्य टीकम डोसी के द्वारा हुआ था जिसने स्वामीजी के दो बार दर्शन किए थे।

स्वामीजी एक महा प्रज्ञावान, सम्पूर्ण तपस्वी, पराक्रमी, आत्मज्ञानी, तत्वज्ञ, धृतिमान और जितेन्द्रिय आचार्य थे। वे मूल जिन मार्ग को जानने वाले भोमिया पुरुष थे।

स्वामीजी का जीवन-चरित्र सर्व प्रथम स्वामी वेणीरामजी ने लिखा। स्वामी हेमराजजी ने भी उनका एक जीवन-चरित्र, संस्मरण और दृष्टान्त लिखे हैं और उनका एक बहुत ही उच्च कोटि का जीवन-चरित्र चतुर्थ आचार्य श्रीमद् जय महाराज ने लिखा है। ये सभी परम पठनीय है। हिन्दी में भ्रम विध्वंसन की भूमिका में ही स्वामीजी की जीवनी मिलती है। 'ओसवाल नवयुवक' नामक सर्व प्रथम मासिक पत्र वर्ष ६ अंक ८ में लेखक द्वारा लिखी एक संक्षिप्त जीवनी प्रगट हुई थी। यह जीवनी उसीका संशोधित, परिवर्तित और परिवर्द्धित संस्करण है।

स्वामीजी ने किसी नए धर्म का प्रचार नहीं किया परन्तु

भगवान के अप्रतिम पुजारी—

उन्होंने मूल जिन मार्ग का प्रकाश किया था। वे भगवान के वचनों के अप्रतिम पुजारी थे। उनमें उन्हें अटूट श्रद्धा थी। उन्होंने अपने आचार-विचार सबको भगवान की शरण में अर्पण किया था। अपने सम्प्रदाय के नाम-संस्करण के समय

'तेरापन्थी' शब्द की उन्होंने जो व्याख्या की है वह स्वामीजी के चरित्र की इस विशेषता को साफ प्रगट करती है। वे जगह-जगह कहते हैं—'भगवान का धर्म सौ टञ्च का सोना है, उसमें खोट नहीं टिक सकती।' 'भगवान का आश्रय बड़ा उदार आश्रय है। इसकी शरण में आकर किसी को अनीति पर नहीं चलना चाहिए।' 'भगवान का मार्ग राजमार्ग है—वह पगडंडी की तरह बीच में कहीं नहीं रुकता—पर सीधा मोक्ष पहुँचाता है, इस प्रकार भगवान के वचनों के प्रति उनकी बड़ी श्रद्धा थी—वे उनके वचनों को बड़ी ऊँची निगाह से देखा करते थे। जब स्वामीजी को इस बात की आशंका हुई थी कि धर्म का प्रचार होना सम्भव नहीं उस समय उन्होंने एक बड़ी मार्मिक ढाल जोड़ी थी जो प्रायः 'विखे की ढाल' कहलाती है। इसमें स्वामीजी ने भगवान महावीर को संबोधन कर कहा था :—"आपने राजा सिद्धार्थ के घर जन्म लिया, आप रानी त्रिशला के अंगजात थे। आप तीनों लोक में प्रसिद्ध चौबीसवें तीर्थंकर हुए। आपने अथिर संसार का त्याग कर संयम धारण किया और घनघाती कर्मों का क्षय किया। आपने केवली होने के बाद तीर्थ चलाया और निरवद्य धर्म का प्रचार किया। आपने १४,००० साधु, ३६,००० साध्वियों को संयम धारण करवा मुक्ति मार्ग पर लगा भव पार उतार दिया। आपने १,५६,००० हजार से ऊपर श्रावकों को व्रतधारी किया और तीन लाख अठारह हजार श्राविकाओं का उद्धार किया। आपने निर्मल ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप इन चार को मुक्ति का

मार्ग बतलाया। साधु श्रावक का धर्म बतला आप मुक्ति पधारे।

भगवान! आज भारत में कोई केवल ज्ञानी नहीं है। १४ पूर्व का ज्ञान आज विच्छेद हो गया है। आज कुबुद्धि कदाग्रहियों ने धर्म में बड़ा फर्क डाल दिया है। ऊँचे कुल के राज-राज्वियों ने जिन धर्म को छोड़ दिया है। आज तो साधु के वेष में केवल लंगड़े-लंगड़ी हैं। हे प्रभु! आज जैन धर्म पर विपत्ति पड़ी है। इस धर्म में आज एक भी राजा नहीं दिखाई देता। आज तो ज्ञान रहित केवल वेप की वृद्धि हो गई है। इन वेषधारियों की भिन्न-भिन्न श्रद्धा है और अलग अलग आचार है। ये द्रव्यलिंगी केवल नाम मात्र के लिए साधु नाम धराते हैं। इन्होंने तो अपनी रक्षा के लिए अन्य दर्शनों की शरण ले ली है। इन्हें किस प्रकार रास्ते पर लाया जाय! ये तो परस्पर में ही वन्दनादिक की सौगन्ध करा कर एक दूसरे के प्रति आस्ता को उतारते हैं परन्तु जब न्याय-चर्चा का काम पड़ता है तब ये भूठ बोलते हुए एक साथ हो जाते हैं। इनकी श्रद्धा का कोई सिर पैर नहीं है। ये बहुत विपरीत बोलते हैं।

हे प्रभु! आपने उत्तराध्ययन में ज्ञान दर्शन चारित्र तप इन चार को ही मुक्ति का मार्ग कहा है। मैं इनके सिवा और किसी में धर्म नहीं श्रद्धता। मैंने तो अरिहन्त भगवान को देव, निर्ग्रंथ साधु को गुरु और आप केवली भगवान द्वारा बतलाये हुए धर्म को धर्म—इस प्रकार तीन तत्त्वों को सच्चा समझ कर उनकी शरण हुआ हूँ और सब भ्रमजाल को दूर कर दिया है। इन तीनों

तत्त्वों में, हे जिन भगवान ! आपकी आज्ञा है, और आपकी आज्ञा को ही मैंने प्रमाण मान लिया है। मेरी आत्मा इस प्रकार धर्म और शुक्ल ध्यान को ध्याती है और मैं आपको आज्ञा का पालन करता हूँ। हे प्रभु ! मेरे तो आप ही का आधार है और केवल सूत्रों की ही प्रतीत है।"

उपरोक्त वाक्यों में भगवान के प्रति उनकी अनन्य भक्ति, अटूट श्रद्धा जगमगा रही है। स्वामीजी भगवान के असाधारण पुरोहित थे। वे अपने को भगवान का सन्देश-वाहक कहने में—उनका दास कहने में अनन्य आनन्द का अनुभव करते थे। एक बार विहार करते-करते स्वामीजी केलवे नामक गांव में पधारे। वहाँ के ठाकुर मोहकमसिंहजी स्वामीजी के दर्शन करने आए। उन्होंने जनता के बीच स्वामीजी से प्रश्न किया—'स्वामीजी ! आपके गांव-गांव की प्रार्थनाएँ आतो हैं, आपको सभी स्थानों के लोग चाहते हैं। स्त्री-पुरुषों को आप अत्यन्त प्रिय हैं—आपको देख कर उनके हर्ष का ठिकाना नहीं रहता··· ऐसा आप में कौन-सा गुण है मुझे बतलाइए ?' स्वामीजी ने जो जवाब दिया था वह उनकी भगवान के प्रति श्रद्धा को खूब प्रकट करता है। उन्होंने कहा—"जिस तरह एक पतिव्रता स्त्री का पति प्रदेश गया हुआ हो और बहुत दिनों से समाचार न आने से वह चिन्तित हो और उसी समय पति के यहाँ से कासीद आवे तो उसे हर्ष होना स्वाभाविक है। वह उस सन्देश-वाहक से नाना प्रकार के प्रश्न पूछती है और सुन-सुन कर अधिकाधिक

हर्षित होती है, उसी प्रकार हम भगवान के सन्देश-वाहक हैं। कासीद के पास केवल पति के समाचार थे। हमारे पास प्रभु के समाचार तो हैं ही उसके अतिरिक्त हमलोग पंच महाव्रतधारी भी हैं। हम भगवान का गुणग्राम करते हैं, लोगों को सुख का मार्ग बतलाते हैं। हम नर्क के दुःख दूर टल जायं ऐसी बातें बतलाते हैं इसलिए हम सबको प्रिय हैं। प्रभु के प्रतिनिधि के नाते ही ये विनतियाँ हैं—इसका कोई दूसरा रहस्य नहीं है।"

एक महान क्रान्तिकारी भिक्षु—

स्वामीजी महान क्रान्तिकारी भिक्षु थे। अपने समय के साधुवर्ग और श्रावकवर्ग में जो-जो आचार-विचार विषयक शिथिलता आ गई थी उसको दूर कर उनमें चारित्रिक दृढ़ता लाने का स्वामीजी ने भगीरथ प्रयत्न किया था। भगवान का सच्चा प्रतिनिधित्त्व कर उन्होंने प्राचीन मूल जिन मार्ग का रहस्योद्घाटन किया था। उन्होंने अपने समय के साधु समाज में आ घुसे शिथिलाचार की धज्जियाँ उड़ाई और भगवान प्रणीत सच्चे मार्ग का आदर्श जनता के सामने उपस्थित किया। आधाकर्मी स्थानक सेवन, अति आहार लोलुपता, दया के रूप में हिंसा-प्रचार, वस्त्र वृद्धि, स्वाभिमान को गिरा-गिरा कर आहारादि के लिए गृहस्थों की गरज, ज्ञान-सम्पादन के नाम पर अत्यधिक पुस्तक मोह, गृहस्थों से सेवा लेना और गृहस्थों की सेवा करना, धर्म के नाम पर गृहस्थों को आरम्भ कार्यों की प्रेरणा करना आदि दोषों की भर्त्सना की थी और केवल

साधु वेष धारण कर बाह्याडम्बर द्वारा भगवान के नाम को लजाने के लिए फटकारा था। इसी प्रकार उन्होंने गृहस्थों को सच्चे श्रावक बनने की प्रेरणा की थी। उनमें नव तत्त्व, बारह व्रत आदि विषयों का सच्चा ज्ञान उत्पन्न करने का प्रयत्न किया था तथा उनमें इस बात का साहस भरा था कि हीनाचारी गुरु फिर चाहे वह वंश परम्परा से ही क्यों न हो, कभी पूज्य नहीं है। हीनाचारी गुरु का सेवन दुर्गति का कारण है। गुरु का दोष छिपाना मूर्खता है। इससे गुरु और अनुयायी दोनों का पतन होता है। उन्होंने कहा था कि भगवान ने विनय को धर्म का मूल बतलाया है परन्तु यह विनय सद्धर्म, सत्गुरु और सत् देव के प्रति ही होना चाहिए। चारित्रिक दृढ़ता के ऊपर स्वामीजी कितना जोर दिया करते थे यह उनके जीवन की घटनाओं के सूक्ष्म अवलोकन से मालूम होगा। एक बार स्वामीजी ने अपने परम भक्त शिष्य भारीमालजी से कहा था—"हे भारीमाल! यदि कोई भी तुम में दोष निकाले तो उसके लिए तुमको तीन दिन का उपवास करना पड़ेगा।" भारीमालजी ने कहा—"स्वामीनाथ! ये तेले तो रोज ही आयगे क्योंकि हमारे द्वेषी बहुत हैं। छिद्रान्वेषण करना, दोष निकालना उनके लिये कोई बड़ी बात नहीं है।" इस पर स्वामीजी ने बड़ा ही गम्भीर उत्तर दिया था। उन्होंने कहा था—"कोई यदि सचमुच ही दोष निकाले तो उस दोष सेवन के पाप से बचने के लिए तेले का दण्ड लेना होगा और यदि कोई व्यर्थ दोष निकाले तो अशुभ कर्मों का

उदय समझ उसके नाश के लिए तेले की तपस्या करनी होगी।" इस तरह स्वामीजी खुद सच्चे आदर्श साधुत्व की उपासना करते थे और जनता के सामने भी निर्दोष निष्कलंक—आपात पवित्र साधु जीवन का आदर्श उपस्थित करना चाहते थे।

अपने समय के साधु-समाज के दोषों के प्रति उन्होंने जो भीषण क्रान्ति मचाई थी उसका दिग्दर्शन उनकी "श्रद्धा आचार की चौपाई" तथा "१८१ बोल की हुण्डी" से मालूम होगा। साधु-समाज में अहिंसा की अक्षुण्ण उपासना हो, छोटे बड़े सब जीवों के प्रति समभाव हो, पंचम आरा का नाम लेकर कोई शिथिलाचार का पोषण न करे परन्तु अधिक दृढ़ता, उत्साह और हिम्मत के साथ संयम धर्म का पालन करे, भगवान के वचनों में अटूट श्रद्धा हो, जिन मार्ग की सूक्ष्मता—बारीकी रोम-रोम में हो, भगवान के नियमों का अखण्ड पालन हो, साधुओं में सच्चा त्याग हो, स्वाभिमान हो, किसी की गरज या परवाह न हो, आदि बातों के ज्वलंत उदाहरण उपस्थित करना ही स्वामीजी के जीवन की साधना थी। आचार में ढिलाई देख वे किसी की खातिर न करते थे। उन्होंने आचार को विद्वत्ता से ऊँचा स्थान दिया था। आचार बिना विद्वता को वे बिना धान के तुष की तरह समझते थे। और इसी कारण से उन्होंने कई विद्वान शिष्यों की विद्वत्ता की जरा भी खातिर किए बिना आचार में शिथिलता लाने के कारण उनको गण बाहर किया था। स्वामीजी ने अपने जीवन के अन्तिम

उपदेश में भी यही कहा था कि यदि कोई दोष का सेवन करे और प्रायश्चित्त न ले तो उसे उसी समय गण से बाहर कर देना—उसकी परवाह न करना। इस तरह स्वामीजी का जीवन एक महान साधना, उत्कट तपस्या और निरन्तर आत्मोभिमुखता और जागरूकता का जीवन था।

उच्च कोटि के कवि और लेखकः—

मूल जैन सिद्धान्त और जैनाचार को जनता में फैलाने के लिए स्वामीजी ने मारवाड़ी भाषा में साधु जीवन उपयोगी तथा गृहस्थ उपयोगी अनेक महत्त्वपूर्ण रचनाएँ की हैं। उनकी अधिकांश रचनाएँ कविता—ढालों में हैं। '१८१ बोल की हुण्डी' गद्य में मिलती है। स्वामीजी में कवित्त्व शक्ति एक जन्म संस्कार था। उनके शब्दों में चमत्कार और अपूर्व भाव अभिव्यक्ति है। भावों में मौलिकता और शब्दों में बड़ा मिठास है। उनके शब्द नपे तुले और रचनाएँ चुस्त हैं, उनमें शब्द परिवर्तन की गुंजाइश नहीं। स्वामीजी में उदाहरण (दृष्टान्त) देने की शक्ति बड़ी अपूर्व थी। उनकी रचनाएँ उनके मौलिक उदाहरणों से भरी पड़ी हैं। उनके रूपक असाधारण प्रतिभा को लिए हुए और हृदय में सहज आनन्द को उत्पन्न करनेवाले हैं। उनका प्रत्येक रूपक इतनी सूक्ष्मता और बारीकी के साथ पार उतारा गया है कि पढ़नेवाला आश्चर्य चकित हो जाता है। स्वामीजी एक कवि थे और ऊँचे दर्जे के संगीतज्ञ भी। वे गायक कवि थे। उनकी रचनाएँ मारवाड़ी भाषा की classical रागनियों में हैं। आप

उन्हें पढ़ते जाइए और वे याद होती जाती हैं। कवि की भावुकता और ऊँचे दर्जे की दार्शनिकता आपको जगह्-जगह दृष्टिगोचर होगी। स्वामीजी की ढालों में असाधारण आगम दोहन है जो उनकी स्वाध्याय शक्ति, मूलाचार के प्रति और उनकी स्वार्पणता को प्रगट करती है।

स्वामीजी की मूल रचनाओं को पढ़ने से ऊपर जो कुछ लिखा गया है वह अक्षर-अक्षर सत्य प्रमाणित होगा। हम इसके लिए पाठकों को स्वामीजी की मूल रचनाएँ पढ़ने का अनुरोध करेंगे। स्वामीजी की मुख्य रचनाएँ निम्नलिखित हैं :—

(१) अनुकम्पा की ढालें, (२) चतर विचार की ढालें, (३) श्रद्धा आचार की चौपई, (४) जिन आज्ञा को चौढालियो, (५) दश दान की ढाल, (६) दान निचोड़ की ढाल, (७) तीन बोलां करि जीव अल्पायु बांधै की ढाल, (८) चार निखेपां की चौपई (६) बारह् व्रत की ढालें, (१०) ६६ अतिचार की ढाल, (११) समकित की ढाल, (१२) श्रावक गुण सज्झाय (१३) इन्द्री वादी की ढाल, (१४) नन्दन मिणियारे रो चौढालियो, (१५) तेरह् द्वार को थोकड़ो, (१६) १८१ बोल की हुण्डी, (१७) बारह् व्रतां को लेखो (१८) एकलरो चौढालियो, (१६) सुदर्शण शेठ को बखाण, (२०) उदायी राजारो बखाण, (२१) जंबू कुंवर की चौपई (२२) शील की नवबाड (२३) अर्जुन माली को चौढालियो (२४) श्री कृष्ण बलभद्ररी चौपई (२५) जिनरिख जिन-

पाल रो चौढालियो, (२६) नव सद्भाव पदार्थ निर्णय और (२७) विनीत अविनीत की चौपई आदि।

'श्रद्धा आचार की चौपई', '१८१ बोल की हुण्डी' साधु आचार विषयक पुस्तकें हैं। इनमें स्वामीजी ने अपने समय के साधुओं में आ घुसे दोषों की बड़ी भर्त्सना की है। शिथिलाचार के प्रति उनके उग्र खिन्न भाव का अन्दाज इन रचनाओं से लगाया जा सकता है। 'नव सद्भाव पदार्थनिर्णय' नामक पुस्तक में नव तत्त्वों का सूक्ष्म विवेचन है। द्रव्य जीव और भाव जीव, द्रव्य पुद्गल और भाव पुद्गल, पुण्य क्या है, वह कैसे प्राप्त होता है आदि विषयों का जैसा तलस्पर्शी ज्ञान और विवेचन इसमें है वैसा इस विषय की कम पुस्तकों में देखने में आता है। यह कहना कोई अत्युक्ति नहीं कि यह पुस्तक अपनी कोटि का कम साहित्य रखती है। 'बारह व्रत की ढालें' श्रावकोपयोगी साहित्य का रत्न कही जा सकती हैं। 'शील की नव बाड' एक असाधारण उच्च कोटि की रचना है। 'जिन रिख जिनपाल के चौढालिए द्वारा स्वामीजी ने 'व्रत' 'अव्रत' के अन्तर को बड़ा स्पष्ट कर दिया है। 'सुदर्शन सेठ' मारवाड़ी भाषा के व्याख्यानों में विशिष्ट स्थान प्राप्त करे ऐसी वस्तु है।

स्वामीजी के उदाहरण कितने चमत्कार पूर्ण होते थे इसका जिक्र एक जगह ऊपर आया है। स्वामीजी के दृष्टान्त जितने बोध प्रद हैं उतने ही आत्म साक्षात्कार कराने वाले और मूल मार्ग

को दिखाने वाले हैं। स्वामीजी की उत्पन्न बुद्धि के वे ज्वलंत प्रमाण हैं। देव, गुरु और धर्म इन तीन पदों में गुरु पद की महिमा को दिखाने के लिए तकडी की डांडी का उदाहरण, अनुकम्पा के सावद्य निरवद्य भेद को दिखाने के लिए, आक, थोर और गाय भैंस के दूध का उदाहरण, दस दानों में नीम, नीमोली, तेल, खल का उदाहरण, जबरदस्ती मुण्डे हुए साधुओं से शुद्ध आचार पालन करने की आशा करने के सम्बन्ध में जबर-दस्ती चिता पर चढ़ा कर सती कर दी गई स्त्री से तेजरा बुखार दूर करने की व्यर्थ प्रार्थना का उदाहरण, परम्परा कुगुरु के साथ सोने की छूरी का उदाहरण, अनुकम्पा के सम्बन्ध में राजपूत और बकरे का उदाहरण ये सब यथास्थान इस संग्रह में आ गये हैं। अविनय की बुराई को दिखाते हुए विनीत अविनीत की चौपई में वे कहते है :—

जैसे अग्नि सार चीजों को जलाती है और पीछे राख को छोड़ देती है वैसे ही अविनय गुणों को भस्म करता है और अवगुण रूपी राख के ढेर को छोड़ देता है।

थावरिया (डाकोत) गर्भवती को कहता है कि तुम्हारे पुत्र होगा और पडोसन को कहता है उसके पुत्री होगी, वैसे ही अविनीत, गुरु भक्त श्रावक-श्राविकाओं के सम्मुख गुरु के गुण-ग्राम करता है परन्तु जो अपने वश होता है उसके सामने गुरु के अवगुण कहता है।

जैसे वेश्या मतलब से पुरुष को रिझाती है, स्वार्थ न पूगने

पर स्नेह तोड़ देती है वैसे ही अविनीत स्वार्थ न निकलने पर अपना छेह—अन्त दे देते हैं।

जिस तरह सोरे को मुंह में डालने से वह ठण्ढा होता है और अग्नि में डालने से गर्म, उसी तरह से वस्त्रादि देने से अविनीत राजी रहता है और न देने पर अवगुण गाने लगता है।

इस प्रकार बहुत से मौलिक उदाहरण उस रचना में मिलते हैं। 'शील की नवबाड' में वे कहते हैं :—

खेत गांव की सीमा पर होता है तो बाड किए बिना उसकी रक्षा नहीं हो सकती। बाड के बाद भी खाई करनी पड़ती है। उसी प्रकार ब्रह्मचारी जहाँ विहार करते हैं वहाँ जगह-जगह स्त्रियाँ रहती हैं इसलिए भगवान ने ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए शील की नवबाड़ और एक कोट कहा है।

ब्रह्मचारी को स्त्री कथा न करनी चाहिए इस सम्बन्ध में वे उदाहरण देते हैं : जैसे नीम्बू फल की प्रशंसा करते हुए मुख में जल का संचार हो जाता है वैसे ही स्त्री कथा करने से ब्रह्मचारी के परिणाम चलित हो जाते हैं। इसलिए स्त्री कथा नहीं करनी चाहिए।

सरस आहार भोजन के सम्बन्ध में उन्होंने कहा था :

जोर का दावानल लग जाय, अथाह वायु बहे, बहुत इन्धन वाला वन पास में हो तो फिर दावानल कैसे शान्त हो सकता है ?

आग से इन्धन दूर कर देने से, वायु के बन्द हो जाने से और ऊपर से जल डालने से दावानल बुझता है।

विषय दावानल है। युवावस्था वन है। हृष्ट-पुष्ट शरीर इन्धन है। सरस आहार वायु है। युवावस्था में हृष्ट-पुष्ट शरीर को रोज-रोज सरस आहार मिलने से विषय बढ़ता जाता है। शरीर को क्षीण करने से, सरस आहार का सेवन नहीं करने से तथा भोगों में वीतराग भाव लाने से विषय दूर होता है।

चर्चा करते समय किसी विषय को समझाने के लिये वे तुरन्त उदाहरण दिया करते थे।

एकबार भिक्खु को किसी ने कहा : 'आप सौगन्ध कराते हैं, उनको लेकर जो तोड़ता है उसका पाप आपको होता है'। स्वामीजी ने तत्क्षण उदाहरण देकर उसे समझाया : 'एक साहुकार है। वह एक वस्त्र बेच कर लाभ करता है। खरीदने वाला वस्त्र के दो टुकड़े करता है और प्रत्येक को कीमत से अधिक मूल्य में बेचता है। इस तरह उसे खूब नफा होता है परन्तु इस नफे में प्रथम बचनेवाले की कोई पांती नहीं होती। अब मानो कपड़े को लाभ पर न बेच कर खरीदनेवाला उसे अग्नि में जला डाले। तो इस नुकसान का भागी भी वही होगा--शुरु में बेचनेवाला नहीं। इसी तरह हम जिसे समझा कर सौगन्ध कराते हैं उसका नफा तो व्रतादि अङ्गीकार कराते समय ही हमको हो चुकता है। बाद में व्रतादि निभाने या न निभाने का लाभालाभ तो व्रत अङ्गीकार करनेवाले को ही होगा। हमारा उसके साथ कोई सरोकार नहीं।'

एकबार सवाई रामजी नामक एक सज्जन ने प्रश्न किया—

'आप चातुर्मासिक व्याख्यान की समाप्ति हो जाने पर नौता मांगते हैं – वह किए लिए ? आप नौता मांग कर व्रत त्याग करवाते हैं वह किस लिए ? क्या आपके भी तोटा (कमी) है कि जिसकी पूर्त्ति के लिए ऐसा करते हैं ?' उसी समय स्वामीजी ने उदाहरण देकर समझाया : 'एक सेठ था, उसने अपनी लड़की का विवाह किया। जान बरात को बहुत दिनों तक रखने के बाद ससन्मान सीख दी। सीख के समय सब के हाथ में एक-एक मिठाई की कोथली दी जिससे कि रास्ते में भूख लगने पर काम में लाई जा सके। इस प्रकार सबको प्रसन्नतापूर्वक घर पहुँचाने का उपाय कर दिया। इसी तरह चातुर्मास पर्यन्त हमने अनेक वैराग्य की बातें बतायी हैं। हलुकर्मियों के अनेक कर्म कटे हैं। अन्त में हम मिठाई की कोथली स्वरूप व्रत प्रत्याख्यान करवाते हैं जिससे कि सहज ही मुक्ति का मार्ग तय हो सके। इस तरह दूसरों की कमी को पूरा करने के लिए हम नौता मांगते हैं।"

पूज्यजी एक बार विहार करते-करते सिरियारी नाम के गाँव में पधारे। वहाँ पर एक सज्जन ने उनसे प्रश्न किया "हे स्वामि ! जीव को नर्क में कौन ले जाता है और उसको तारता कौन है ?" स्वामी जी ने उत्तर दिया "जैसे भारी पत्थर अपने ही बोझ से अपने ही आप पेंदे बैठ जाता है उसी तरह कर्म रूपी भार से जीव दुर्गति को जाता है।"

यह उत्तर सुन कर उस सज्जन ने फिर पूछा: "जीव स्वर्ग कैसे जाता है—उसे कौन स्वर्ग ले जाता है ?" स्वामीजी ने

उत्तर दिया : "जैसे काष्ठ पानी में डालने से स्वयं तिरता है उसे नीचे से कोई सहारा नहीं देता अपने हल्केपन के स्वभाव से ही ऊपर तिरता है इसी तरह से 'करनी' (धर्म कृत्यों) से हल्का बन कर जीव स्वर्ग को जाता है और कर्म से सम्पूर्ण रहित होने पर मोक्ष को।"

स्वामीजी को एक बार किसी ने पूछा : "जीव कैसे तरे ?" स्वामीजी ने उदाहरण पूर्वक उत्तर दिया : "पैसे को पानी में डालो वह तुरन्त डूब जाता है परन्तु उसी पैसे को तपा कर और पीट कर उसकी कटोरी (प्याला) बना लो फिर वह पानी पर तिरने लगेगा। इस कटोरी में अन्य पैसे को रख दो वह भी कटोरी के साथ तिरने लगेगा। उसी तरह संयम और तप की साधना से आत्मा को हल्का बनाओ। कर्म भार के दूर होने से वह स्वयं भी संसार समुद्र से तिरेगा और दूसरों को तारने में भी समर्थ होगा।"

स्वामीजी का सैकड़ों हजारों लोगों से चर्चा करने का काम पड़ा था। कई उनसे सिद्धान्तों के सम्बन्ध में चर्चा करने आते, कई उनकी बुद्धि की जाच करने और कई उनकी परीक्षा करने आते। परन्तु स्वामीजी की हमेशा जीत होती। कुतर्कियों के तो वे ऐसे पित्त शांत करते कि उन्हें जन्म जन्मान्तर तक याद रहे।

एक बार स्वामीजी देसूरी जा रहे थे। रास्ते में एक सज्जन मिले जो स्वामीजी से बड़ा द्वेष रखते थे। उन्होंने स्वामीजी से नाम पूछा। स्वामीजी ने अपना नाम बतलाया। तब वे

महाशय कहने लगे—"क्या आप ही तेरापंथी भीखणजी हैं—आप के मुख देखने से तो नर्क मिलता है।" स्वामीजी ने तत्क्षण पूछा "और आपका मुंह देखने से"। बिना विचार गर्व के साथ महाशयजी ने उत्तर दिया—'स्वर्ग में'। स्वामीजी ने कहा "हम तो नहीं मानते कि किसी के मुख देखने से स्वर्ग नर्क मिलता है परन्तु आपके कथनानुसार मेरे लिए स्वर्ग है और आपके लिये नर्क।" उन सज्जन की बोलती बन्द हो गई। अपना से मुंह लेकर वहाँ से चलते बने।

स्वामीजी एक बार पाली शहर पधारे, उस समय उनसे एक महाशय चर्चा करने आए। वे कहने लगे कि कोई फांसी झूल रहा हो तो भी तुम्हारा दुष्ट श्रावक उसके गले से फांसी निकाल कर उसकी रक्षा नहीं करता। स्वामीजी ने समझाया कि मेरा तेरा मत करो जो कुछ चर्चा करनी हो वह न्याय पूर्वक करो। परन्तु वे सज्जन ऐसा क्यों मानने वाले थे। वे तो बार-बार इसी प्रकार कहते जाते थे। तब स्वामीजी ने उनसे पूछा : "दो आदमियों ने किसी मनुष्य को फांसी झूलते देखा। एक जाकर गले से फांसी निकालता है और दूसरा नहीं निकालता। अब बतलाओ फांसी निकलाने वाला कैसा और नहीं निकालने वाला कैसा मनुष्य है?" सज्जन ने जवाब दिया : "जो फांसी निकालता है वह उत्तम पुरुष है—वह दयावान और स्वर्ग को जाने वाला है, जो नहीं निकालता वह नर्कगामी है।"

स्वामीजी ने फिर प्रश्न किया--"मानो आप और आप के

गुरु ने किसी को फांसी झूलते देखा। फांसी से कौन रक्षा करेगा ?"

चर्चा करने वाले सज्जन ने जवाब दिया: "मैं रक्षा करूंगा। मेरे गुरु ऐसा नहीं कर सकते क्योंकि मुनि को ऐसा करना नहीं कल्पता।"

स्वामीजी ने कहा: "तब तो आपके अनुसार आपके गुरु नर्क गामी हुए!"

स्वामीजी की इस बात को सुन कर चर्चा करने वाले सज्जन के पित शांत हो गए। अपना सिर नीचा कर वहां से चल पड़े।

एक बार स्वामीजी पादु शहर पधारे। साथ में हेम ऋषि भी थे। एक श्रावक हेम ऋषि की चदर हाथ में लेकर कहने लगे: "यह चदर शास्त्रीय प्रमाण से लम्बी है।" स्वामीजी ने तुरन्त चदर को हाथ में लिया और उसकी लम्बाई चौड़ाई नाप दिखाई। वह शास्त्रीय प्रमाण से अधिक न थी। श्रावक शर्मिन्दा हुआ। वह बोला—"मुझे झूठ ही सन्देह हुआ।" स्वामीजी ने गम्भीर होकर कहा: "क्या तुमने हम लोगों को इतना मूर्ख समझ लिया है कि चार अंगुल कपड़े के लिए संयम जैसी सार वस्तु को खो देंगे। हम गांव-गांव विहार करते हैं। रास्ते में हमें कोई नहीं देखता तब तो हम कच्चा जल भी पी लेते होंगे ? यह हमने कोई साधुपन का ढोंग नहीं रचा है। हमारी आत्मा ही हमारे साधुपन की गवाही है। संतों के प्रति ऐसा अविश्वास भविष्य में न करना।"

किसी ने स्वामीजी से कहा—"मेरा संयम लेने का विचार है—मैं संयम लूंगा।" स्वामीजी ने कहाः "दीक्षा का विचार ठीक है परन्तु साधुपन तुम्हारे लिए कठिन है। तुम्हारा कच्चा हृदय कुटुम्बियों के मोह के आगे टिक नहीं सकता।' उसने कहा "स्वामीजी आप ठीक कहते हैं। सम्बन्धियों को रोते देखता हूँ तो आँसू तो आ ही जाते हैं।"

स्वामीजी ने कहाः "जब जवांई बहू को लेकर सासरे से विदा होता है तब बहू रोती है जंवाई नहीं रोता। पिहर के वियोग की वेदना से बहू का रोना स्वाभाविक ही होता है पर यदि वर ही रोने लगे तो वह विचित्र और समझ के बाहर की बात होती है। तुम्हारे दीक्षा लेने के विचार से कुटुम्बियों का रोना स्वाभाविक है परन्तु तुम संयम के लिए तैयार हुए किस प्रकार मोह ला सकते हो ? तुम से संयम का बोझा नहीं उठ सकता। तुम दीक्षा के लिए अयोग्य हो।"

एक बार स्वामीजी को किसी ने कहाः "आपके बहुत लोग पीछे पड़े हुए हैं वे आपके दोष निकालते रहते हैं।" स्वामीजी ने उत्तर दियाः "यह तो अच्छा ही है। अवगुण तो निकालने के ही होते हैं—रखने के नहीं। कुछ अवगुण तो हम संयम और तप द्वारा निकाल देते हैं जो कुछ दूसरे निन्दा करते हैं उसको समभाव पूर्वक सहन कर निकाल देते हैं।"

एक सज्जन स्वामीजी के दया सिद्धान्त का उपहास करते

हुए कहने लगे: "आप दया-दया क्या चिल्लाते हैं—दया रांड तो अक्रूरड़ी में लोट रही है।"

दया के अनन्य पुरोहित स्वामीजी ने उत्तर दिया: "उत्तराध्ययन में आठ प्रवचन माताओं में दया दीप रही है। एक सेठ अपनी स्त्री को छोड़ कर चल बसा। उसके दो बेटे थे। सपूत बेटा माँ का प्रतिपालन करता और कपूत उसे रांड कह कर पुकारता। आज भगवान महावीर—दया के दीपते स्वामी तो मोक्ष को पधार चुके हैं। सपूत साधु और श्रावक दया माता की प्रतिपालना करते हैं परन्तु कपूत दया माता को रांड कहते हैं। दया माता को रांड कहने वाले जन्म-जन्म में भांड होंगे।

किसी महानुभाव ने स्वामीजी से कहा: "आप जिस गांव में जाते हैं उस गांव में धसका-सा पड़ जाता है—इसका क्या कारण है?"

स्वामीजी ने कहा: "कुगुरुओं और उनके अन्धानुयायिओं को सन्तों का आगमन अच्छा नहीं लगता। जिस तरह ज्वर से पीड़ित व्यक्ति भोज में जाता है तो मीठे पकवानों को भी कड़वे बतलाने लगता है परन्तु निरोगी कहता है—तुम जो कहते हो वह मिथ्या है, पकवान मीठे हैं परन्तु ज्वर होने से वे तुम्हें कड़वे लगते हैं। इसी तरह जिसके मिथ्यात्त्व-रोग का प्रकोप है उसको सन्त पुरुष नहीं सुहाते। हलुकर्मी तो सन्त को देख कर हर्षित ही होते हैं उनके हृदय में मुनियों के दर्शन की चाव लगी रहती है।"

इस सम्बन्ध में एक और भी उदाहरण उन्होंने दिया था : "किसी गांव में ओझा जाता है और कहता है कि हम डाकणियों को बुला कर सुबह नीले कांटों में जला डालेंगे तब डाकणियों के और उनके रिश्तेदारों के ही धसके पड़ते हैं और लोग तो यह सोच कर हर्षित होते हैं कि अब गांव का उपद्रव दूर हुआ। उसी तरह सच्चे साधुओं के आने से वेषधारी और उनकी पक्ष करने वालों के ही धसके पड़ते हैं मुमुक्षु को तो उनके आगमन की बात सुनने से हर्ष ही होता है। वे सोचते हैं—'हमें उत्तम पुरुषों के वचनामृत सुनने को मिलेंगे' सुपात्र दान का लाभ पाकर हम आत्म-कल्याण करेंगे'।"

स्वामीजी के और भी बहुत-से संस्मरण और दृष्टान्त यहाँ दिए जा सकते हैं परन्तु स्थानाभाव से नहीं दिए जाते। केवल एक घटना का और उल्लेख किया जाता है।

स्वामीजी के व्यक्तित्व का असर बड़ा जबदस्त होता था। उनके वैराग्यपूर्ण विचारों से श्रोता के हृदय में वैराग्य की धारा फूट पड़ती थी। ऋषि हेमराजजी की दीक्षा उनके व्यक्तित्व के इस पहलू को बड़े सुन्दर रूप में प्रकट करती है। मुनि हेमराजजी का दीक्षा लेने का विचार तो बहुत दिनों से था परन्तु वे विवाह करने के बाद दीक्षा लेना चाहते थे। स्वामीजी उनके गुणों से मुग्ध थे। एकबार स्वामीजी किसी गांव में पधारे। हेमराजजी उनके दर्शन करने के लिए आए। प्रभात होते ही हेमराजजी स्वामीजी को वन्दन नमस्कार कर अपने गांव की ओर चले। स्वामीजी

ने भी वहाँ से कुशालपुर की ओर विहार किया। स्वामीजी कुछ ही दूर गये होंगे कि उन्हें अपशुकुन हुए। स्वामीजी की चाल तो शीघ्र थी ही। वे हेमराजजी के नजदीक आ पहुँचे और पीछे से बोले --"हेमड़ा ! मैं भी आ गया हूँ ।" यह देख कर हेमराजजी बड़े पुलकित हुए। उनका रोम-रोम विकशित हो गया। वे वहीं रुक गये और दोनों हाथ जोड़ कर भक्तिभाव से वन्दना की। स्वामीजी बोले—"हम तो आज तुम्हारे लिए ही आए हैं। हेम सुन कर हर्षित हुए और स्वामीजी के वचनों को मन में समझ कर बोले : "आप भले ही पधारे हैं।" स्वामीजी ने कहा—"तुम्हारा संयम लेने का विचार है न ? तुम्हें यह कहते-कहते तीन वर्ष हो गये कि मैं चारित्र लूँगा परन्तु अब अपने निश्चित विचार बतलाओ। मैं पाली चौमासा करना चाहता था परन्तु केवल तुम्हारे लिए सिरियारी में चौमासा किया। अपने भीतर की बात कहो। कोई बात छिपाओ मत !"

हेम ने हाथ जोड़ कर आन्तरिक हर्ष के साथ कहा : "चरण लेने का मेरा विचार पक्का है।"

यह सुन कर स्वामीजी बोले—"मेरे जीते जी लोगे या मरने के बाद ?"

यह बात हेम को बहुत मर्म की लगी। वे बोले—"नाथ ! आप यह बात क्यों कहते हैं ? यदि आपको मेरी बात का विश्वास न हो तो नौ वर्ष के बाद ब्रह्मचर्य पालन का नियम करा दीजिए।' यह सुन कर स्वामीजी ने हेमराजजी की इच्छा

से उसी समय त्याग करा दिया। अवसर के जानकार स्वामीजी त्याग करा कर बोले—"शायद नौ वर्ष तुमने विवाहित जीवन के लिए रखा है ?" हेमराजजी ने कहा : "आप ठीक कहते हैं।" तब स्वामीजी एक लेखा बतलाने लगे : "६ वर्ष में करीब एक वर्ष तो विवाह करते-करते बीत जायगा। तब आठ वर्ष रहेंगे। विवाह के बाद करीब एक वर्ष स्त्री पिहर रहती है। तब केवल सात वर्ष ही रहेंगे। तुम्हें दिन में स्त्री-सेवन का त्याग है तब केवल ३॥ वर्ष रहे। तुम्हें पांच तिथियों में विषय सेवन का त्याग है, अतः ३॥ वर्ष में केवल दो वर्ष ४ मास रहेंगे। ४ पोहर रात्रि में एक पोहर से कुछ कम स्त्री सेवन के लिए समझो। इस तरह विवाहित जीवन केवल छः मास तक ही भोगा जा सकेगा।" यह हिसाब बतला कर स्वालीजी फिर बोले—"इतने से विषयिक सुख के लिए ६ वर्ष के संयमी जीवन को क्यों गमाते हो ? इतने से सुख के लिए ६ वर्ष की ढील करना तुम्हें उचित नहीं। यदि विवाह करने के बाद एक दो बच्चे होकर स्त्री का देहान्त हो जाय तब तो महान विपत्ति आ पड़ेगी। बच्चों का सारा बोझा आ गिरेगा। फिर चारित्र आना विशेष कठिन होगा। इस लिए दोनों हाथ जोड़ कर उछाह पूर्वक यावज्जीवन के लिए शुद्ध शील को अंगीकार करो।" यह सुन कर हेम की आभ्यन्तर आँखें खुल गयीं और हाथ जोड़ कर त्याग के लिए खड़े हो गए। यह देख कर दूर की सोचने वाले भिखु ने बार बार पूछा "क्या शील आदरवा दूँ।" तब हेम बोले

—"हां मुझे शील अङ्गीकार करवा दीजिये। शील लेना मुझे स्वीकार है।" यह सुन कर स्वामीजी ने त्याग कराया। पाँच पदों की साख से यावज्जीवन तक ब्रह्मचर्यव्रत धारण कराया। अब हेम बोले—"आप शीघ्र सिरियारी पधारें और मेरी आत्मा को तारें।"

तब स्वामीजी बोले "अभी मैं हीरांजी को भेजता हूँ। मन लगा कर साधु का प्रतिक्रमण सीखना।" यह कह कर स्वामी जी नींवली पधारे। इस तरह उजागर पुरुष भिक्षु ने हेम के सोए हुए पुरुषार्थ को जगा दिया और उनके हृदय से विषय वासना को दूर कर न केवल आजीवन ब्रह्मचर्य स्वमन से स्वीकार कराया परन्तु उनको दीक्षा लेने तक के लिए तैयार कर दिया। श्रीमद् राजचन्द्र ने एक जगह कहा है कि ज्ञानी के बचन विषय का विरेचन कराने वाले होते हैं। स्वामीजी के उपरोक्त प्रसंग में यह बात ज्वलन्त रूप से प्रगट हुई है।

स्वामीजी की रचनाओं में कटुपन आया है परन्तु यह उनके समय और परिस्थिति का ही परिणाम कहा जा सकता है। स्वामीजी को यह बात जरा भी उचित नहीं मालूम देती थी कि कोई धर्म के नाम पर मिथ्या आचार और विचार का प्रचार करे या पंचम आरा का नाम लेकर चरित्र विहीन हो जाय। वे साधुओं में संयम की कठोर साधना—अखण्ड साधना देखना चाहते थे और जब कभी वे साधुओं को संयम भ्रष्ट होते देखते—उनको जिन मार्ग से विपरीत आचरण करते देखते तो उनका हृदय

मर्माहत हो उठता था और वे उसका जोर से विरोध करते थे। एक समय किसी ने स्वामीजी से कहा—"आप बहुत कड़े दृष्टान्त देते हैं।" स्वामीजी ने उत्तर दिया: "गंभीर[1] जैसे तीव्र रोग के होने पर हल्के-हल्के खुजलाने से काम नहीं चलता। उस समय तो हलवानी[2] से डाम देने[3] पड़ते हैं तभी वह हल्का पड़ता है। मिथ्यात्त्व रूपी गंभीर रोग को मिटाने के लिए कड़े दृष्टान्त रूपी डाम देने पड़ते हैं।" परन्तु यह सब होते हुए भी स्वामीजी का खण्डन व विरोध मिथ्या मान्यताओं और सिद्धान्तों के प्रति होता था, व्यक्ति विशेष या सम्प्रदाय विशेष पर उन्होंने शायद ही कोई आक्षेप किया होगा। ऐसे राग-द्वेष के प्रसंगों को तो वे सदा टाला करते थे। एक बार स्वामीजी से एक महाशय ने पूछा—"इन बाईस टोलों में साधु कितने हैं और असाधु कितने हैं?"

स्वामीजी ने उत्तर दिया: "एक अंधा था वह पूछता फिरता था इस शहर में नंगे कितने हैं और सवस्त्र कितने हैं? पूछते-पूछते वह वैद्य के पास आया। और उससे भी उसने वही प्रश्न किया।

वैद्य ने कहा "तुम्हारी आँखों में दवा डाल कर मैं तुम्हारी

---

१ गंभीर यह एक ऐसा रोग होता है जिससे छिद्र ही छिद्र हो जाते हैं।

२ एक पंच विशेष

३ तपे हुए लोहे को शरीर के लगा देना।

आँखों को देखने की शक्ति दे सकता हूँ फिर तुम खुद देख लेना कि कितने नंगे हैं और कितने सवस्त्र हैं।" उसी तरह हम भी साधु कौन है और असाधु कौन है यह बतला सकते हैं फिर तुम्हीं देख लेना कि कौन साधु है और कौन असाधु। हमें यह बताने की जरूरत नहीं है।"

तब प्रश्न किया गया—"साधु कौन है ? असाधु कौन है ?" स्वामीजी ने उत्तर दिया "यह तो सीधी बात है। जो संयम लेकर सही-सही पालन करता है वह सच्चा साधु है और जो व्रतों को अंगीकार कर उनका पालन नहीं करता वह असाधु है। जिस तरह रुपये उधार लेकर जो समय पर वापिस देता है वह साहु-कार कहलाता है और जो रुपये लेकर देता नहीं और तकाजा करने पर उलटा झगड़ा करता है वह दिवालिया कहलाता है। उसी तरह मुनित्व धारण कर उसका पालन करते रहना साधुत्व का चिन्ह है। जो दोष होने पर उसे स्वीकार नहीं करता और उसका दण्ड नहीं लेता परन्तु उलटा दोषों को धर्म सिद्ध करता है वह असाधु है।" उनकी रचनाओं में एक जगह भी बाईस सम्प्रदाय, सम्वेगी सम्प्रदाय या अन्य किसी सम्प्रदाय का नामो-ल्लेख नहीं है और न यह लिखा है कि अमुक सिद्धान्त अमुक सम्प्रदाय का है। अपने समय के साधु सम्प्रदाय में मूल आचार से भिन्न जो भी आचार विचार उन्हें मालूम दिया उसकी तीव्र आलोचना उन्होंने की है। आलोचन करते हुए भी उन्होंने जगह-जगह कहा है—"मैं जो कुछ कहता हूँ वह सम्मुचय साधु

आचार की बात कहता हूँ। मुझे किसी से राग द्वेष नहीं है न किसी की व्यर्थ निन्दा करना चाहता हूँ। सच्ची आलोचन को आक्षेप या निन्दा समझना भूल है। जिस भ्रष्ट आचारण से भगवान ने एक दो नहीं परन्तु लाखों करोड़ों साधु साध्वियों, श्रावक-श्राविकाओं को नर्क पड़ते हुए बतलाया है — मै उसी आचारण को बुरा समझता हूँ। साधु और असाधु एक ही वेष में होने से असाधु को पहचानने के लिए ही उनके चारित्र्य का वर्णन किया है जिससे कि सन्त पुरुष साधु की शरण पड़ कर अपना आत्म-कल्याण कर सकें।

आचार्य भीखणजी को स्वामी दयानन्द की और उनके साहित्य को सत्यार्थ प्रकाश की उपमा देने वाले महानुभाव गहरी भूल करते हैं। शायद रिसर्च करते समय स्वामीजी की मूल कृतियों पर उनकी दृष्टि नहीं गई और न उनके ये उद्गार ही उनके सामने आए। इसलिए शायद 'भीखणजी' की जगह 'भीखम दास', 'तेरापन्थी' की जगह 'तेरहपन्थी' और 'अनुकम्पा की ढालें' नहीं परन्तु 'ढाल बना रखी है—' ऐसा लिखते हैं। इन महानुभाव से हमारा अनुरोध है कि वे स्वामीजी की मूल कृत्तियों को देखें और फिर विचारें कि उनके प्रति उपरोक्त विचार प्रगट कर उन्होंने कितना बड़ा अन्याय किया है। यदि स्वामीजी के प्रति यह उपमा लागू हो तब तो सूयगडांग पढ़ने पर यही उपमा भगवान महावीर को भी देनी होगी!

स्वामीजी जैसे उच्च कोटि के संस्कारी कवि थे वैसे ही वे महान तत्त्वज्ञानी और दार्शनिक महापुरुष थे। धर्म तो उनकी नस-नस में भरा हुआ था। वे महान वैरागी पुरुष थे। उनका वैराग्य बड़ा गंभीर था। पौद्गलिक सुख को वे रोगीला सुख समझते थे। वे कहते हैं—"जैसे पांव रोगी को खुजली अच्छी लगती है वैसे ही पुण्य रूपी कर्म रोग से पीड़ित होने के कारण ये विषयिक सुख मीठे लगते हैं। जहर चढ़ने पर नीम मीठा लगने लगता है उसी तरह पुण्योदय के कारण भोगादि अच्छे लगते हैं परन्तु वास्तव में वे जहर के समान हैं। वे स्थायी नहीं नाशवान हैं। आत्मिक सुख शाश्वत हैं वे किसी बाह्य वस्तु की अपेक्षा नहीं रखते। इसलिए आत्मिक सुख की कामना करनी चाहिए पौद्गलिक सुखों की नहीं!" स्वामीजी का तत्त्वज्ञान असाधारण था वे जन्म से ही दार्शनिक थे। जैन तत्त्वों के गंभीर ज्ञान को देखना हो तो उनकी 'नव तत्त्व' की ढालें पढ़ जाइए। तत्त्वों का जैसा सूक्ष्म विवेचन इस पुस्तक में किया गया है वैसा कम देखने में आता है। जैन शास्त्रों का वे तलस्पर्शी अध्ययन रखते थे। उनकी रचनाओं में गहरा आगम दोहन है और साथ में गम्भीर विचार और चिंतन। वे महान आध्यात्मिक योगी, अनूठे तत्त्वज्ञानी और अलौकिक संत पुरुष थे।

महान तत्त्वज्ञानी और दार्शनिक—

प्रायः ऐसा कहा जाता है कि स्वामीजी ने दान और दया का बड़ा अपवाद किया है—उन्होंने दान और दया को उठा दिया।

परन्तु ऐसा कहनेवाले बहुत बड़े भ्रम में हैं। स्वामीजी दया के अवतार थे। उन्होंने जिन प्रणीत दया का वास्तविक स्वरूप दिखाया था। जिसने दुनिया के सूक्ष्म-से-सूक्ष्म और बड़े-से-बड़े जीव को एक दृष्टि से देखा, जिसने बड़े के लिए छोटे के बलिदान का विरोध किया, जिसने पृथ्वी काय से लेकर पशुपक्षी मनुष्य सबके प्रति समान भाव से अहिंसा के पालन का उपदेश दिया वह दया को उठानेवाला कैसे हुआ? जिसने वीर भगवान की तरह ही कहा—"पाँच स्थावरों की हिंसा को मामूली मत समझो उनकी हिंसा दुर्गति का कारण है" उसको दया का विरोधी और हिंसा धर्मी कैसे कहा जा सकता है? वह तो दया का पुरोहित—उसका अन्यतम पुजारी है। देखिए दया भगवती का यह अनन्य पुजारी कैसे भक्तिपूर्ण शब्दों में उसकी उपासना करता है। वह कहता है :—

जिन मारग री नींव दया ऊपर
खोजी हुवै ते पावैंजी
जो हिंसा कियां धर्म हुवै तो,
जल मथियाँ घी आवैजी ॥

छः काय हणे हणावे नाहीं,
वले हणतां ने नहीं सरावैंजी।
इसड़ी दया निरन्तर पालै,
त्यांरे तुलै कुण आवैजी ॥

आहिज दया ने महाव्रत पहिलो,
तिण में दया दया सब आईजी।
पूरी दया तो साधुजी पालै,
बाकी दया रही नहीं कांईजी।
आहिज दया चौखे चित्त पालै,
ते केवलियां री छै गादीजी।
आहिज दया सभा में परूपैं,
त्यां ने वीर कह्या न्यायवादजी॥
प्राण, भूत, जीव ने सत्त्व,
त्यांरी घात न करणी लिगारीजी।
आ तीन काल रा तीर्थंकरां री वाणी,
आचाराङ्ग चौथा अध्ययन मंझारीजी।
मति हणो मति हणो कह्यो अरिहन्ता,
तो जीव हणो किण लेखैजी
अभ्यन्तर आंख हियारी फूटी,
ते सूत्र म्हामो नहिं देखैजी॥

स्वामीजी के उपरोक्त उद्‌गारों को देखने के बाद किसी को शंका करने का स्थान नहीं है कि स्वामीजी हिंसा धर्मी थे। उनके अनुकम्पा' सम्बन्धी विचारों को पुस्तक में विस्तार से दिया है।

स्वामीजी के दया दान सम्बन्धी विचारों को लेकर जो स्वामीजी के समाज को भूला-भटका और आधुनिक समझते हैं वे बड़ी गल्ती करते हैं। विद्वेष वश किसी खास प्रयोजन से लिखे हुए किसी के एक पक्षीय लेख को देख कर इस प्रकार की धारणा कर लेना—किसी भी विद्वान को न्यायोचित नहीं है और "जैन आचार्यों के शासन-भेद" नामक समन्वय कारक ग्रन्थ के लिखने वाले विद्वान के लिए तो वह एक अक्षम्य अपराध भी है। यद्यपि इसमें कोई विवाद नहीं कि स्वामीजी के 'तेरापन्थ' को स्थापित हुए लगभग १८० वर्ष ही हुए हैं तथापि यह कदापि नहीं कहा जा सकता है कि इस समाज के विचार आधुनिक हैं। वे विचार तो उतने ही पुराने हैं जितना कि भगवान महावीर का शासन और श्वेताम्बर सूत्रीय विचारधारा। यह कोई मिथ्या गौरव की बात नहीं है परन्तु एक बहुत बड़े सत्य को प्रगट करना है कि जैन आचार और विचार की इस आधुनिक समाज ने जितनी रक्षा की है और उसे पोषण दिया है वह जिन शासन के इतिहास में एक बहुत बड़े महत्त्व की वस्तु है। स्वामीजी ने कभी किसी नए मत का प्रचार नहीं किया। उन्होंने जैन धर्म रूपी सौटंच सोने में आ मिली हुई खोट को दूर कर उसे उसके शुद्ध रूप में चमकाया था। वर्षों से टूटी हुई जैन आचार-विचार की शृङ्खला को उन्होंने अपूर्व त्याग और जीवन पर्यन्त महान विपदाओं को अडिगता पूर्वक सहन करते हुए फिर से जोड़ा था। स्वामीजी का मतवाद जिनशासन की

सम्पूर्ण विशेषताओं को लिए हुए है। उसके द्वारा जिन-शासन की जो सेवा हुई है वह भुलाई नहीं जा सकती और यदि सत्य और न्याय का गला न घोंटा जाय—तो वह जिन शासन के इतिहास में स्वर्णाक्षरों में लिखने योग्य अध्याय है।

स्वामीजी के दया और दान सम्बन्धी विचार मूल जैन सूत्रों के आधार और उनके पाए पर हैं। उन विचारों को जो भ्रमात्मक समझता है उसे जैन सूत्रों के आधार पर उसका खण्डन करना होगा। उन्हीं के आधार से उनकी भ्रमात्मकता दिखानी होगी। स्वामीजी के इस संग्रह को पढ़ने से यह तो साफ प्रगट होगा कि उनके दान दया सम्बन्धी अधिकांश विचार लब्ध प्रतिष्ठित आचार्यों के विचारों से पूर्ण सामञ्जस्य रखते हैं। पुरुषार्थसिद्ध्युपाय नामक ग्रन्थ में श्रीमद् अमृतचन्द्राचार्य ने अहिंसा का बड़ा सूक्ष्म विवेचन किया है। यह स्वामीजी के विचारों से बिलकुल मिलता है। उदाहरण स्वरूप उपरोक्त आचार्य लिखते हैं :

(१) निश्चय कर कषायरूप परिणमन हुए मन वचन काय के योगों से जो द्रव्य और भाव रूप दो प्रकार के प्राणों का व्यपरोपण का करना है वह अच्छी तरह निश्चय की हुई हिंसा होती है।

(२) निश्चय करके रागादि भावों का प्रगट न होना यह अहिंसा है और उन्हीं रागादि भावों की उत्पत्ति होना हिंसा होती है, ऐसा जैन सिद्धान्त का संक्षिप्त रहस्य है।

(३) निश्चय कर योग्य आचार वाले सन्त पुरुष के रागादिक भावों के अनुप्रवेश बिना केवल प्राण पीड़न से हिंसा कदाचित् भी नहीं होती ।

(४) रागादिक भावों के वश में प्रवृत्ति रूप अयत्नाचार रूप प्रमाद अवस्था में जीव मरे अथवा न मरे परन्तु हिंसा तो निश्चय कर आगे ही दौड़ती है ।

(५) क्योंकि जीव कषाय भावों सहित होने से पहिले आपके ही द्वारा आपको घातता है फिर पीछे से चाहे अन्य जीवों की हिंसा होवे अथवा नहीं होवे ।

(६) हिंसा में विरक्त न होना हिंसा, और हिंसारूप परिणमना भी हिंसा होती है । इसलिए प्रमाद के योग में निरन्तर प्राण घात का सद्भाव है ।

(७) निश्चय कर कोई जीव हिंसा को नहीं करके भी हिंसा फल के भोगने का पात्र होता है और दूसरा हिंसा करके भी हिंसा के फल को भोगने का पात्र नहीं होता ।

(८) किसी जीव को तो थोड़ी हिंसा उदयकाल में बहुत फल को देती है । और किसी जीव को बड़ी भारी हिंसा भी उदय समय में बिलकुल थोड़े फल की देनेवाली होती है ।

(९) एक साथ मिल कर की हुई भी हिंसा इस उदयकाल में विचित्रता को प्राप्त होती है और किसी को वही हिंसा तीव्र फल देती है और किसी को वही हिंसा न्यून फल देती है ।

(१०) कोई हिंसा पहिले ही फल जाती है, कोई करते ही

फलती है, कोई कर चुकने पर भी फल देती है और कोई हिंसा करने का आरम्भ करके न कर सकने पर भी फल देती है। इसी कारण से हिंसा कषाय भावों के अनुसार ही फल देती है।

(११) एक पुरुष हिंसा को करता है परन्तु फल भोगने के भागी बहुत होते हैं, इसी प्रकार हिंसा को बहुत जन करते हैं परन्तु हिंसा के फल का भोक्ता एक पुरुष होता है।

(१२) किसी पुरुष को तो हिंसा उदय काल में एक ही हिंसा के फल को देती है और किसी पुरुष को वही हिंसा बहुत से अहिंसा के फल को देती है, अन्य फल को नहीं।

(१३) निरन्तर संवर में उद्यमवान् पुरुषों को यथार्थता से हिंस्य, हिंसक, हिंसा और हिंसा के फलों को जान कर अपनी शक्त्यानुसार हिंसा छोड़ना चाहिये।

(१४) जो जीव हिंसारूपी धर्म को भले प्रकार श्रवण करके भी स्थावर जीवों की हिंसा के छोड़ने को असमर्थ हैं वे भी त्रस जीवों की हिंसा को छोड़ें।

(१५) उत्सर्ग रूप निवृत्ति अर्थात् सामान्य त्याग कृत-कारित अनुमोदना रूप मन-वचन-काय करके नव प्रकार की कही है और यह अपवाद रूप निवृत्ति अर्थात् विशेष त्याग अनेक रूप हैं।

(१६) इन्द्रियों के विषयों की न्यायपूर्वक सेवा करनेवाले श्रावकों को अल्प एकेन्द्रिय घात के अतिरिक्त अवशेष स्थावर (एकेन्द्री) जीवों के मारने का त्याग भी करने योग्य होता है।

(१७) परमेश्वर कथित धर्म अथवा ज्ञान सहित धर्म बहुत बारीक है। अतएव "धर्म के निमित्त हिंसा करने में दोष नहीं है," ऐसे धर्म मूढ़ अर्थात् भ्रम रूप हुए हृदय सहित हो करके कदाचित् शरीरधारी जीव नहीं मारना चाहिए।

(१८) "निश्चय करके धर्म देवताओं से उत्पन्न होता है। अतएव इस लोक में उनके लिए सब ही दे देना योग्य है" इस प्रकार अविवेक से गृहीत बुद्धि को पा करके शरीरधारी जीव नहीं मारना चाहिए।

(१६) "पूजने योग्य पुरुषों के लिए बकरा आदिक जीवों के घात करने में कोई भी दोष नहीं है" ऐसा विचार करके अतिथि व शिष्ट पुरुषों के लिए जीवों का घात करना योग्य नहीं है।

(२०) "बहुत प्राणियों के घात से उत्पन्न हुए भोजन से एक जीव के घात से उत्पन्न हुआ भोजन अच्छा है" ऐसा विचार करके कदाचित् भी जङ्गम जीव का घात नहीं करना चाहिए।

(२१) "इस एक ही जीव के मारने से बहुत जीवों की रक्षा होती है" ऐसा मान कर हिंसक जीवों का भी हिंसन न करना चाहिए।

(२२) "बहुत जीवों के घाती ये जीव जीते रहेंगे तो अधिक पाप उपार्जन करेंगे" इस प्रकार की दया करके हिंसक जीवों को नहीं मारना चाहिए।

(२३) और "अनेक दुःखों से पीड़ित जीव शीघ्र ही

दुःखाभाव को प्राप्त हो जावेंगे" इस प्रकार की वासनारूपी तलवार को लेकर दुःखी जीव भी नहीं मारने चाहिए।

(२४) भोजनार्थ सन्मुख आए हुए अन्य दुर्बल उदरवाले अर्थात् भूखे पुरुष को देख करके अपने शरीर का मांस देने की उत्सुकता से अपने को भी नहीं घातना चाहिए।

श्रीमदमृतचन्द्राचार्य के उपरोक्त विचारों से स्वामीजी का कहीं कोई विरोध नहीं है परन्तु अद्भुत सामञ्जस्य है। स्वामीजी ने भिन्न शब्दों में अपने चमत्कारिक ढंग से इन्हीं सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है-- यह अनुकम्पा सम्बन्धी उनके विचारों के अवलोकन से साफ प्रगट होगा। स्वामीजी की गाथाओं में हिंसा-अहिंसा का जो सूक्ष्म विवेचन है वह कई अंशों में उपरोक्त विवेचन से भी अधिक विशेषता को लिए हुए है। यह अनुकम्पा सम्बन्धी इस संग्रह में दिए हुए अध्याय से प्रगट होगा।

स्वामीजी आदर्शवादी अहिंसक थे। उन्होंने अहिंसा के आदर्श के सम्बन्ध में भी कोई समझौता (compromise) नहीं किया था। श्रीमद् राजचन्द्र ने कहा है- 'जहाँ फूल की पाँखडी को भी तकलीफ होती हो वहाँ जिन भगवान की आज्ञा नहीं है।' यही बात स्वामीजी ने भिन्न शब्दों में भी कही थी। उनके हृदय में दया की श्रोतस्विनी बहा करती थी और वे इतने दयालु थे कि छोटे बड़े जीवों के जीवन की आपेक्षिक (relative) कीमत लगा कर अधिक पुण्यवालों के लिए छोटे जीवों को मारने में कोई पाप नहीं है—यह जो सिद्धान्त निकाल

लिया गया था उसका वे घोर विरोध करते थे। भगवान महावीर की तरह ही छोटे-बड़े सब जीवों को आत्म समान देखने की भावना का उन्होंने बड़े न्याय संगत ढंग से प्रतिपादन किया था। वे अहिंसा के पुजारी और असाधारण प्रचारक थे।

स्वामीजी की विस्तृत जीवनी, उनके संस्मरण, उनकी चर्चाएँ, उनके दृष्टान्त आदि के अध्ययन करने पर ऊपर स्वामीजी के सम्बन्ध में जो कुछ लिखा गया है वह अक्षर-अक्षर सत्य साबित होगा। स्वामीजी की रचनाएँ जैन साहित्य की अमर कृतियाँ हैं। वे अपना असाधारण स्थान रखती हैं। सभी मुमुक्षुओं से हमारा अनुरोध है कि वे इस संग्रह के साथ स्वामीजी की मूल कृतियों को भी पढ़ें और आत्मोपकार करें।

कलकत्ता,
ता० ३-८-३९

श्रीचन्द रामपुरिया

विषय-सूची

श्रीमद् आचार्य भीखणजी

के

विचार-रत्न

श्रीभगवान बोले--

हे पार्थ ! मेरे सैकड़ों और हजारों रूप देख । वे नाना प्रकारके, दिव्य, भिन्न-भिन्न रंग और आकृति-वाले हैं । ५

हे भारत ! आदित्यों, वसुओं, रुद्रों, दो अश्विनी-कुमारों और मरुतोंको देख । पहले न देखे गये, ऐसे बहुतसे आश्चर्योंको तू देख । ६

हे गुडाकेश ! यहां मेरे शरीरमें एकरूपसे स्थित समूचा स्थावर और जंगम जगत तथा और जो कुछ तू देखना चाहता हो वह आज देख । ७

इन अपने चर्मचक्षुओंसे तू मुझे नहीं देख सकता । तुझे मैं दिव्य चक्षु देता हूं । तू मेरा ईश्वरीय योग देख । ८

संजयने कहा—

हे राजन् ! योगेश्वर कृष्णने ऐसा कहकर पार्थको अपना परम ईश्वरी रूप दिखलाया । ९

वह अनेक मुख और आंखोंवाला, अनेक अद्भुत दर्शनवाला, अनेक दिव्य आभूषणवाला और अनेक उठाये हुए दिव्य शस्त्रोंवाला था । १०

उसने अनेक दिव्य मालाएँ और वस्त्र धारण कर